हिन्दी
त्रैमासिक

रामकृष्ण
मिशन
विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – फरवरी – मार्च

★ १९७३ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी प्रणवानन्द

वार्षिक ४)

एक प्रति १)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

—:०:—

१. अज्ञान-पाश काटने का शस्त्र १
२. अग्नि-मंत्र (विवेकानन्द के पत्र) २
३. अवधूत और उसके उप-गुरु (श्रीरामकृष्ण के चुटकुले) ५
४. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) .. ८
५. स्वामी विरजानन्द (डा० नरेन्द्र देव वर्मा) .. २६
६. भगतन के भगवान् (पं० रामकिंकर उपाध्याय) ४८
७. गीता प्रवचन–१५ (स्वामी आत्मानन्द) .. ६७
८. मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प (शरद्चन्द्र पेंढारकर) ८६
९. अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द (ब्रह्मचारी देवेन्द्र) ९१
१० शिवाजी पर स्वामी विवेकानन्द के विचार–५ (डा० एम. सी. नांजुन्दा राव) .. १०४
११. अथातो धर्मजिज्ञासा १२०
१२. विवेकानन्द जयन्ती समारोह–१९७३ .. १२३
१३. साहित्य-वीथी (पुस्तक-समीक्षा) १२६

कव्हर चित्र-परिचय – स्वामी विवेकानन्द
(लन्दन, १८९६ ई०, में, प्रवचन देते हुए ध्यानमग्न)

मुद्रण स्थल : **नरकेसरी प्रेस**, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ११] जनवरी–फरवरी–मार्च [अंक १

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७३ ★ एक प्रति का १)

अज्ञान-पाश काटने का शस्त्र

नास्त्रैर्न शस्त्रैरनिलेन वह्निना
छेत्तुं न शक्यो न च कर्मकोटिभिः ।
विवेकविज्ञानमहासिना विना
धातुः प्रसादेन सितेन मंजुना ।।

——यह (अज्ञान-पाश) न तो अस्त्रों से कटता है, न शस्त्रों से; न वायु से, न अग्नि से; न ही वह करोड़ों (फल-कामनायुक्त यज्ञ-यागादि) कर्मों से छिन्न होता है। यह तो एकमात्र उस अद्भुत ज्ञान-खड्ग से ही कटता है, जो विवेक से उत्पन्न होता है और जिस पर ईश्वर-कृपा का सान चढ़ा होता है।

—— विवेकचूड़ामणि, १४७

अग्नि-मंत्र

(खेतड़ी-निवासी पण्डित शंकरलाल को लिखित)

बम्बई,
२० सितम्बर, १८९२

प्रिय पण्डितजी महाराज,

आपका पत्र मुझे यथासमय प्राप्त हुआ। न जाने क्यों मेरी इतनी अधिक प्रशंसा हो रही है! ईसा मसीह का कहना है कि 'एक ईश्वर को छोड़कर कोई भला नहीं।' बाकी सब उसके हाथ के यंत्र मात्र हैं। 'उस सर्वशक्तिमान् प्रभु की जय हो', सामर्थ्यवान् पुरुषों का जय-जयकार हो, न कि मुझ-जैसे अनधिकारी का। यह दास प्रशस्ति के सर्वथा अयोग्य है, और विशेषतः एक फकीर तो किसी प्रकार की प्रशंसा पाने का अधिकारी नहीं। क्या केवल अपने कर्तव्य का पालन करनेवाले सेवक की आप प्रशंसा करेंगे?

अब दूसरी बात पर आता हूँ।

हिन्दू मस्तिष्क का झुकाव सदा साधारण सत्य से विशेष सत्य की ओर रहा है, न कि विशेष सत्य से साधारण सत्य की ओर। अपने समस्त दर्शनों में हम सदैव किसी एक साधारण सिद्धान्त को लेकर बाल की खाल निकालने की प्रवृत्ति पाते हैं, फिर वह सिद्धान्त कितना ही बचकाना क्यों न हो। इन सामान्य सिद्धान्तों में कहाँ तक तथ्य है, यह न तो कभी किसी ने पूछा और न खोजने की ही कोशिश की। इसलिए हमारे यहाँ

स्वतंत्र विचार का अभाव-सा रहा है। यही कारण है कि हमारे यहाँ उन विज्ञानों की इतनी कमी है, जो पर्यवेक्षण और सामान्यीकरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। ऐसा क्यों हुआ? --- दो कारणों से। एक तो यह कि यहाँ की जलवायु की भयंकर गर्मी हमें क्रियाशील होने की अपेक्षा आराम और चिन्तन को अधिक पसन्द करने के लिये बाध्य करती है, और दूसरे यह कि पुरोहित-ब्राह्मण दूर देशों की यात्रा या समुद्र-यात्रा नहीं करते थे। दूर देश की यात्रा जल से या थल से करनेवाले लोग यहाँ थे तो अवश्य, पर वे प्रायः सभी व्यापारी थे, अर्थात् वे ऐसे लोग थे, जिनके बौद्धिक विकास का सामर्थ्य पुरोहितों के अत्याचारों एवं स्वयं की धन-तृष्णा द्वारा सोख लिया गया था। अतः उनके पर्यवेक्षणों से मानवीय ज्ञान का विस्तार तो न हो पाया, उलटे उसकी अवनति हो गयी, क्योंकि उनके निरीक्षण इतने दोषयुक्त थे तथा विभिन्न देशों के उनके वर्णन इतने अतिशयोक्तिपूर्ण और तोड़-मरोड़कर इतने विकृत बना दिये गये थे कि उनके द्वारा असलियत तक पहुँचना असम्भव था।

इसलिए हम लोगों को विदेशों की यात्रा करनी चाहिए। यदि हम अपने को सचमुच फिर से एक राष्ट्र के रूप में देखना चाहते हैं, तो हमें यह जानना चाहिए कि दूसरे देशों में समाज-यंत्र किस प्रकार काम कर रहा है और साथ ही हमें मुक्त हृदय से दूसरे राष्ट्रों से विचार-विनिमय करते रहना चाहिए। सबसे बड़ी बात

तो यह है कि हमें गरीबों पर अत्याचार करना एकदम बन्द कर देना चाहिए। हम किस हास्यास्पद दशा को पहुँच गये हैं! यदि कोई भंगी हमारे पास भंगी के रूप में आता है, तो संक्रामक रोग की तरह हम उसके स्पर्श से दूर भागते हैं। परन्तु जब उसके सिर पर एक कटोरा पानी उड़ेलकर कोई पादरी प्रार्थना के शब्द बुदबुदा देता है और उसे पहनने को एक कोट मिल जाता है, फिर वह कितना ही फटा-पुराना क्यों न हो--तब चाहे वह किसी कट्टर से कट्टर हिन्दू के कमरे में पहुँच जाय, उसके लिए कहीं रोक-टोक नहीं; ऐसा कोई नहीं जो उससे सप्रेम हाथ मिलाकर बैठने के लिए उसे कुर्सी न दे! इससे अधिक विडम्बना की बात और क्या हो सकती है? आइये, देखिये तो सही, दक्षिण भारत में पादरी लोग क्या गजब कर रहे हैं। ये लोग निम्न जाति के लोगों को लाखों की संख्या में ईसाई बना रहे हैं। ट्रावनकोर में, जहाँ पुरोहितों के अत्याचार भारतवर्ष भर में सबसे अधिक हैं, जहाँ जमीन के प्रत्येक टुकड़े के मालिक ब्राह्मण हैं और जहाँ राजघरानों की महिलाएँ तक ब्राह्मणों की उपपत्नी बनकर रहने में गौरव मानती हैं, लगभग चौथाई जन-संख्या ईसाई हो गयी है! मैं उन बेचारों को क्यों दोष दूँ? हे भगवान्! मनुष्य कब दूसरे मनुष्य से भाई-चारे का बर्ताव करना सीखेगा?

भवदीय
विवेकानन्द

अवधूत और उसके उप-गुरु

गुरु तो एक ही होते हैं, पर उप-गुरु कई हो सकते हैं। जिससे भी शिक्षा मिले, वही उप-गुरु हो सकता है। भागवत में कहा है कि अवधूत के चौबीस उप-गुरु थे।

(अ) एक दिन जब अवधूत मैदान में से होकर जा रहे थे, तो उन्होंने एक बरात को बड़े शान-शौकत और बाजे-गाजे के साथ अपनी ओर आते देखा। अचानक उनकी नजर समीप ही बैठे एक व्याध पर पड़ी, जो अपने शिकार पर निशाना साधने में तन्मय था। बरात की शोर और धाम-धूम उसका ध्यान अपनी ओर न खींच सकी। उसने आँख उठाकर भी बरात की ओर न देखा। अवधूत ने व्याध को प्रणाम किया और कहा, "भाई! तुम मेरे गुरु हो। जब मैं ध्यान में बैठूँ, तो मेरा मन ध्यान के विषय पर उसी तरह एकाग्र हो जाय, जैसे तुम्हारा अपने शिकार पर था।"

(आ) एक व्यक्ति बंसी डालकर मछली पकड़ रहा था। अवधूत उसके पास जाकर बोले, "भाई! अमुक स्थान को जाने के लिये कौनसा रास्ता है?" उस समय बंसी की डोरी हिल रही थी, ऐसा लगता था कि मछली चारे को पकड़ रही है; इसलिए उसने कोई उत्तर नहीं दिया, बल्कि बंसी पर ध्यान गड़ाये चुप बैठा रहा। जब मछली काँटे में फँस गयी, तो उसे बाहर खींचकर वह अवधूत की ओर मुड़ा और बोला, "हाँ, अब कहिये,

आप क्या पूछ रहे थे ?" अवधूत ने उसे प्रणाम किया और कहा, "भाई ! तुम मेरे गुरु हो ; जब मैं इष्टदेवता के ध्यान में बैठूँ, तो तुम्हारा अनुसरण कर सकूँ ; जब तक ध्यान-पूजादि समाप्त न कर लूँ, तब तक अन्य किसी भी ओर मेरा मन न जाय ।"

(इ) एक चील अपनी चोंच में मछली दबाकर उड़ी, तो उसके पीछे अन्य चीलों और बहुत से कौओं का झुण्ड लग गया । ये सब के सब उस मछलीवाली चील को ठुनकते और मछली को झपटने की कोशिश करते । वह चील इधर भागे, उधर भागे, पर जिधर भी जाये, कौए काँव-काँव करते हुए उस पर टूट पड़ते । अचानक उसकी चोंच से मछली छूटकर नीचे गिर गयी और एक दूसरी चील उसे झपटकर भागी । अन्य सारी चीलें और कौए अब इस दूसरी चील के पीछे लग गये । पहली चील ने राहत की साँस ली और एक वृक्ष की डाल पर शान्तिपूर्वक बैठ गयी । उसे इस प्रकार शान्त और क्षोभरहित हो बैठी देख अवधूत ने प्रणाम किया और कहा, "तुम मेरी गुरु हो । तुमने मुझे सिखा दिया कि संसार में मन की शान्ति तभी सम्भव है, जब मनुष्य सारी उपाधियों को त्याग देता है ; अन्यथा हर कदम पर जोखिम बना रहता है ।"

(ई) एक सारस दलदल में मछली पकड़ने धीरे धीरे चल रहा था । उसके पीछे एक बहेलिया धनुष में बाण रखकर उस पर निशाना लगा रहा था, पर सारस का

उधर कोई ध्यान ही नहीं था। अवधूत ने सारस को प्रणाम किया और कहा, "जब मैं ध्यान में बैठूँ, तो तुम्हारा अनुसरण करूँ और यह देखने के लिये कभी न मुड़ूँ कि मेरे पीछे कौन है।"

(उ) अवधूत ने मधुमक्खी में भी एक गुरु देखा। मधुमक्खी ने दीर्घकाल के बड़े परिश्रम से शहद इकट्ठा किया। कहीं से एक आदमी आया और वह शहद के छत्ते को तोड़कर शहद पी गया। मधुमक्खी के भाग्य में अपने सुदीर्घ प्रयत्नों का फलभोग नहीं लिखा था। यह देखकर अवधूत ने मधुमक्खी को प्रणाम किया और कहा, "हे मधमक्षिके ! तुम मेरी गुरु हो। तुमसे मैंने यह सीखा कि संचय का निश्चित परिणाम क्या होता है।"

•

धर्म का मूल उद्देश्य है– मनुष्य को सुखी करना। किन्तु पर-जन्म में सुखी होने के लिए इस जन्म में दुःख-भोग करना कोई बुद्धिमानों का काम नहीं है। इस जन्म में ही, इसी मुहूर्त से सुखी होना होगा। जिस धर्म के द्वारा यह सम्पन्न होगा, वही मनुष्य के लिए उपयुक्त धर्म है।

–स्वामी विवेकानन्द

मन और उसका निग्रह

स्वामी बुधानन्द

(गतांक से आगे)

८. अनुकूल भीतरी वातावरण बनाना पड़ता है

मनोनिग्रह की साधनाओं का अभ्यास करने के लिए हमें जीवन की कतिपय अपरिहार्य बातों को विवेकपूर्वक स्वीकार कर एक अनुकूल भीतरी वातावरण तैयार करना पड़ता है। यद्यपि ये बातें अपरिहार्य और अनिवार्य हैं, तथापि हम बहुधा उनकी ओर से अपनी आँखें मूँद लेते हैं। फल यह होता है कि अनावश्यक रूप से मानसिक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। पर जो लोग अपने मन को नियंत्रण में लाना चाहते हैं, उन्हें सावधानीपूर्वक मन को अनावश्यक समस्याओं के भार से बचाना चाहिए; क्योंकि अपरिहार्य और अनिवार्य समस्याओं का बोझ ही कुछ कम नहीं है। इस सन्दर्भ में 'अंगुत्तर निकाय' में बुद्ध द्वारा दिये गये निम्नलिखित उपदेश हमारे लिए पालनीय हैं––

भिक्खुओ! ये पाँच उपदेश पुरुषों और स्त्रियों के द्वारा, गृहस्थों और भिक्खुओं के द्वारा समान रूप से मननीय हैं।

१. किसी न किसी दिन वृद्धावस्था मुझ पर आयेगी और मैं उससे बच न सकूँगा।

२. किसी न किसी दिन मुझ पर रोग का आक्रमण हो सकता है और मैं उससे बच न सकूँगा।

३. किसी न किसी दिन मुझ पर मृत्यु का आक्रमण होगा

और मैं उससे बच न सकूँगा।

४. जिन वस्तुओं को मैं प्रिय मानता हूँ, वे परिवर्तनशील और नाशवान हैं तथा उनका मुझसे वियोग हो जाता है। मैं इसे अन्यथा नहीं कर सकता।

५. मैं अपने ही कर्मों का प्रतिफल हूँ और मेरे कर्म भले हों या बुरे, मैं ही उनका उत्तराधिकारी बनूँगा।

भिक्खुओ! वृद्धावस्था का विचार करने से यौवन का मद दूर किया जा सकता है, या कम से कम, न्यून किया जा सकता है। रोग का विचार करने से स्वास्थ्य का मद दूर किया जा सकता है, या कम से कम, न्यून किया जा सकता है। मृत्यु का विचार करने जीवन का मद दूर किया जा सकता है, या कम से कम, न्यून किया जा सकता है। समस्त प्रिय वस्तुओं के परिवर्तन और वियोग पर विचार करने से अधिकार की लालसा दूर की जा सकती है, या कम से कम, न्यून की जा सकती है; तथा यह विचार करने से कि मैं अपने ही कर्मों का प्रतिफल हूँ, विचार, वाणी और क्रिया की अशुभ प्रवृत्तियों को दूर किया जा सकता है, या कम से कम, न्यून किया जा सकता है।

जो इन पाँच बातों पर विचार करता है, वह अपने अहंकार और वासना को दूर कर सकता है, या कम से कम, न्यून कर सकता है और इस प्रकार निर्वाण के मार्ग पर चलने में समर्थ हो सकता है।†

बुद्ध के इन उपदेशों का अभ्यास परोक्ष रूप से मन की शुद्धि में सहायक होगा।

९. भीतरी अनुशासन की दो श्रेणियाँ

मन को वश में करने के लिए हमें अपने तईं भीतरी

† सुधाकर दीक्षित, Sermons and Sayings of the Buddha, चेतना, बम्बई, पृ० ४९-५०

अनुशासन की दो श्रेणियाँ तैयार करनी पड़ती हैं--

(अ) एक श्रेणी स्थायी मूलतः उपचार के लिए है।

(ब) दूसरी श्रेणी उच्च शक्तिसम्पन्न आपत्कालीन ब्रेक (रोक) प्रदान करने के लिए है।

पहली श्रेणी मन को सामान्य रूप से एक स्वस्थ दिशा प्रदान करेगी। दूसरी श्रेणी संकटकाल में हमारी रक्षा करेगी।

यदि पहली श्रेणी का अभ्यास न किया जाय, तो हम दूसरी श्रेणी का तनिक भी उपयोग करने में समर्थ नहीं होते। इसका सरल-सा कारण यह है कि दूसरी श्रेणी को जो शक्ति मिलती है, वह प्रथम श्रेणी के अनुशासन के सम्यक् अभ्यास से प्राप्त होती है।

पहली श्रेणी के अन्तर्गत कई मूलभूत अनुशासन आते हैं--

१. जीवन को रचनात्मक विचार के समुचित ढाँचे में ढालना चाहिए। दैनिक जीवन में एक निश्चित क्रम होना चाहिए और कुछ मूलभूत सिद्धान्तों का पालन होना चाहिए। इससे हम जो भी करते हैं, उसे एक प्रकार की दिशा प्राप्त होती है। साथ ही कुछ नैतिक मूल्यों का भी पालन होना चाहिए जिससे हमारा आचरण दिशाहीन होने से बचे।

जिनके जीवन में नैतिक एवं अन्य सिद्धान्तों के लिए स्थान नहीं है, जिनके जीवन में क्रम का अभाव है, वे मनोनिग्रह को लगभग असम्भव ही पाएँगे। मन को वश

में करने के लिए हमें अपने जीवन में एक लय लानी चाहिए।

२. मनःसंयम के लिए हमें उसकी चंचलता पर रोक लगानी चाहिए। 'राजयोग' में स्वामी विवेकानन्द मन की चंचलता का वर्णन करते हुए कहते हैं --

मन को संयत करना कितना कठिन है! इसकी एक सुसंगत उपमा उन्मत्त वानर से दी गयी है। कहीं एक वानर था। वह स्वभावतः चंचल था, जैसे कि वानर होते हैं। लेकिन उतने से सन्तुष्ट न हो, एक आदमी ने उसे काफी शराब पिला दी। इससे वह और भी चंचल हो गया। इसके बाद उसे एक बिच्छू ने डंक मार दिया। तुम जानते हो, किसी को बिच्छू डंक मार दे, तो वह दिन भर इधर-उधर कितना तड़पता रहता है। सो उस प्रमत्त अवस्था के ऊपर बिच्छू का डंक! इससे वह बन्दर बहुत अस्थिर हो गया। तत्पश्चात् मानो उसके दुःख की मात्रा को पूरा करने के लिए एक दानव उस पर सवार हो गया। यह सब मिलाकर, सोचो, बन्दर कितना चंचल हो गया होगा। यह भाषा द्वारा व्यक्त करना असम्भव है। बस, मनुष्य का मन उस वानर के सदृश है। मन तो स्वभावतः ही सतत चंचल है, फिर वह वासनारूप मदिरा से मत्त है, इससे उसकी अस्थिरता बढ़ गयी है। जब वासना आकर मन पर अधिकार कर लेती है, तब सुखी लोगों को देखने पर ईर्ष्यारूप बिच्छू उसे डंक मारता रहता है। उसके भी ऊपर जब अहंकाररूप दानव उसके भीतर प्रवेश करता है, तब तो वह अपने आगे किसी को नहीं गिनता। ऐसी तो हमारे मन की अवस्था है! सोचो तो, इसका संयम करना कितना कठिन है! †

† विवेकानन्द साहित्य, खंड १, पृष्ठ ८६।

मन की चंचलता पर रोक लगाने के लिए हमें उसके कारणों को जान लेना चाहिए। ये कारण कौनसे हैं ? मन की अपवित्रताएँ ही इस चंचलता के कारण हैं।

१०. मन जितना शुद्ध होगा, उसका निग्रह उतना ही सरल होगा

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं--

मन जितना ही निर्मल होगा, उसे वश में करना उतना ही सरल होगा। यदि तुम उसे वश में रखना चाहो, तो मन की निर्मलता पर जोर देना होगा।...मन को पूर्णतया वश में करने के लिए पूर्ण नैतिकता ही सब कुछ है। जो पूर्ण नैतिक है, उसे कुछ करना शेष नहीं, वह मुक्त है।†

मन का संयम उसकी पवित्रता पर निर्भर करता है। हम मन को इसलिए अपने वश नहीं कर पाते कि वह आज अशुद्ध है। यदि हम जीवन इस प्रकार बितायें जिससे मन और भी अशुद्ध हो जाये तथा साथ ही मनोनिग्रह के लिए भरपूर प्रयत्न भी करें, तो इससे कोई लाभ न होगा। फिर, यदि मन की शुद्धि की ओर ध्यान दिये बिना ही हम मन:संयम के लिए प्रयत्नशील हों, तो ऐसी दशा में भी हमें सफलता न मिल पायेगी। हो सकता है कि जहाँ पर प्रारम्भ से ही मन पर्याप्त शुद्ध हो, वहाँ बात दूसरी हो। हम मन को वश में लाने के लिए ऐसी साधनाप्रणाली चाहते हैं, जो उसकी अशुद्धि को भी दूर करती चले।

† विवेकानन्द साहित्य, खंड ४, पृष्ठ १८१-२।

मन की अशुद्धियाँ क्या हैं ? वे हैं—मन की वासनाएँ और वृत्तियाँ जो डाह, घृणा, क्रोध, भय, ईर्ष्या, काम, लोभ, दम्भ और मोह आदि के रूप में प्रकट होती हैं। ये रजोगुण और तमोगुण से जन्म लेती हैं। ये अशुद्धियाँ राग और द्वेष को उत्पन्न कर मन में विक्षोभ पैदा करती हैं और इस प्रकार उसकी शान्ति को हर लेती हैं।

इन अशुद्धियों को दूर कैसे किया जाय ?

११. मन की बनावट को बदलना

मन को पौष्टिक आहार देकर तथा उसकी बनावट को ऐसा बदलकर कि जिससे शेष दो गुणों पर सत्त्वगुण की प्रधानता हो जाय, मन की अशुद्धियों को धीरे धीरे दूर किया जा सकता है। अन्त में, भले यह सत्य है कि सत्त्वगुण को भी लाँघ जाना पड़ता है, तथापि पहले तो उसकी प्रधानता लानी पड़ती है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि उपनिषद् के अनुसार मन अन्नमय है।† इस उपदेश का विस्तार करते हुए उपनिषद् कहता है—

> खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है। उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग होता है, वह मल हो जाता है; जो मध्य भाग है, वह मांस हो जाता है; और जो अत्यन्त सूक्ष्म होता है, वह मन हो जाता है।‡

और भी—

---

† छान्दोग्य उपनिषद्, ६।५।४

‡ वही, ६।५।१

हे सोम्य ! मथे जाते हुए दही का जो सूक्ष्म भाग होता है, वह ऊपर इकट्ठा हो जाता है; वह घृत होता है; उसी प्रकार हे सोम्य ! खाये हुए मन का जो सूक्ष्म अंश होता है, वह सम्यक् प्रकार से ऊपर आ जाता है; वह मन होता है। †

चूँकि मन अन्नमय है इसलिए स्वाभाविक ही उपदेश आगे बढ़ता है—

आहार की शुद्धि होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है, अन्तःकरण की शुद्धि होने पर निश्चल स्मृति होती है तथा (ऐसी निश्चल) स्मृति के प्राप्त होने पर सम्पूर्ण ग्रन्थियों की निवृत्ति हो जाती है। ‡

शंकराचार्य के भाष्य के अनुसार यहाँ पर 'आहार' शब्द का तात्पर्य वह सब है जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं—उदाहरणार्थ, शब्द-रूप-गन्ध आदि; तथा 'अन्तःकरण की शुद्धि' का अर्थ है कि वह उन राग-द्वेष और मोह आदि से मुक्त हो जाता है, जो मन में क्षोभ उत्पन्न कर उसे दुर्निग्रह बना देते हैं। अतः मनोनिग्रह के मूलभूत उपायों में से एक यह है कि ऐसे 'आहार' से दूर रहा जाय जो आसक्ति, द्वेष और मोह उत्पन्न करता हो।

पर प्रश्न यह है कि कौनसा आहार आसक्ति, द्वेष और मोह उत्पन्न करता है इसे कैसे जानें ? मोटे तौर पर, गीता के अनुसार, राजसिक और तामसिक आहार आसक्ति, द्वेष और मोह को जन्म देता है। सात्त्विक आहार मनुष्य की आसक्ति, द्वेष और मोह को कम करने

---

† वही, ६।६।१-२

‡ ,, , ७।२६।२

में सहायक होता है। पोषण के लिए साधारणतया जो कुछ मुँह से ग्रहण किया जाता है, केवल उसका ही मन पर प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि अन्य पेयों का भी मन पर विशेष असर पड़ता है। शराब और दवाइयाँ भी तो मुँह से ही ली जाती हैं और उनका मन पर प्रभाव प्रत्यक्ष है। गन्ने का रस और मदिरा पीने से मन पर कैसा अलग अलग असर पड़ता है यह तो सहज ही देखा जा सकता है। मन पर नशीली दवाइयों का प्रभाव भी अच्छी तरह विदित ही है। फिर, यह भी देखा गया है कि हम आँखों से जो कुछ देखते हैं, कानों से जो कुछ सुनते हैं और जो कुछ स्पर्श करते हैं, उस सबका मन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कोई सिनेमा या कोई भाषण हमारे मन में कई प्रकार की विचार-लहरियों को उठा दे सकता है, जिससे मन का निग्रह या तो सरल हो जाता है, या फिर कठिन।

अतएव, मनोनिग्रह के अनुकूल वातावरण तैयार करने में भोजन-पान का विचारपूर्वक ग्रहण कुछ दूर तक सहायक होता है। इसी प्रकार, अन्य इन्द्रियों के माध्यम से हम जो कुछ ग्रहण करते हैं वह भी समानरूप से महत्त्वपूर्ण है। जो लोग मन को वश में करना चाहते हैं, उनके लिए राजसिक और तामसिक आहार के बदले सात्त्विक आहार का चयन लाभदायक होगा। जहाँ तक मुँह से ग्रहण किये जानेवाले आहार का प्रश्न है, गीता (१७।८-१०) इस सम्बन्ध में सर्वोत्तम प्रकाश डालती है—

आयुःसत्त्वबलारोग्य-सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्ष-विदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।।

—आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और रुचि को बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने, पौष्टिक और स्वभाव से ही मन को प्रिय लगनेवाले खाद्य पदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं ।

—कड़ुवे, खट्टे, लवणयुक्त, अति गरम और तीखे, रूखे और दाहकारक तथा दुःख, चिन्ता और रोगों को उत्पन्न करनेवाले भोज्य पदार्थ राजसिक पुरुष को प्रिय होते हैं ।

—जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट और अपवित्र है, वह तामसिक पुरुष को प्रिय होता है ।

सात्त्विक, राजसिक और तामसिक पुरुषों को जो पदार्थ प्रिय होते हैं, वे ही क्रमशः मन की सात्त्विक, राजसिक और तामसिक वृत्तियों के लिए भी उत्तरदायी होते हैं ।

मानवी स्वभाव सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों के विभिन्न मात्राओं में मेल से बनता है । अतः इनमें से किसी एक गुण का शेष दो गुणों पर वर्चस्व मनुष्य के स्वभाव का निर्णय करता है । जिस मनुष्य के स्वभाव में रज या तम का आधिक्य है, वह चाहते हुए भी उस व्यक्ति के समान वर्तन नहीं कर सकता जिसके स्वभाव में सत्त्व की प्रधानता है । तभी तो श्रीकृष्ण मानो नैराश्य के स्वर में गीता में (३।३३) बोल उठते हैं —

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।

—— एक ज्ञानवान् व्यक्ति भी अपने स्वभाव के ही अनुसार चेष्टा किया करता है; समस्त प्राणी अपने अपने स्वभाव के वश में हो कर्म करते हैं; इसमें किसी का निग्रह भला क्या करेगा ?

यदि यही सत्य हो कि निग्रह से कुछ नहीं हो सकता, अगर मनुष्य का स्वभाव पहले से निश्चित हो और उसे यदि बदला न जा सके, तो फिर मनोनिग्रह पर विचार करने का कोई अर्थ नहीं। अतएव, श्रीभगवान् के कथन का तात्पर्य ऐसा लगता है —— मन को नियंत्रण में लाने के लिए मनुष्य को अपना शारीरिक और मानसिक स्वभाव बदलना ही पड़ेगा। जब तक हमारे मन की बनावट में रज और तम की प्रधानता है, तब तक हम चाहे जितनी कोशिश करें, मन को वश में नहीं ला सकते। इसका कारण समझ लेना चाहिए। वेदान्त के अनुसार——

विक्षेपशक्ती रजसः क्रियात्मिका यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।
रागादयोऽस्याः प्रभवन्ति नित्यं दुःखादयो ये मनसो विकाराः ।।
कामः क्रोधो लोभदम्भाद्यसूयाऽहंकारेर्ष्यामत्सराद्यास्तु घोराः ।
धर्मा एते राजसाः पुम्प्रवृत्तिर्यस्मादेषा तद्रजो बन्धहेतुः ।।
एषावृतिर्नाम तमोगुणस्य शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा ।
सैषा निदानं पुरुषस्य संसृतेर्विक्षेपशक्तेः प्रवणस्य हेतुः ।।
अभावना वा विपरीतभावनासंभावना विप्रतिपत्तिरस्याः ।
संसर्गयुक्तं न विमुंचति ध्रुवं विक्षेपशक्तिः क्षपयत्यजस्रम् ।।

—— रजोगुण में विक्षेपशक्ति होती है, जो क्रियात्मिका है। इसी से संसार की आदिम प्रवृत्ति निकली है। मन के जो राग आदि विकार हैं, वे तथा दुःख आदि इसी से नित्य उत्पन्न होते रहते हैं।

—— काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, द्वेष, अहंकार, ईर्ष्या और मात्सर्य आदि ये सब रजोगुण के धर्म हैं। इन्हीं से मनुष्य की सांसारिक प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है। अतएव रजोगुण बन्धन का कारण है।
—— तमोगुण में आवरणशक्ति होती है जिसके कारण वस्तुएँ अपने स्वरूप से अन्यथा दिखायी देती हैं। यही मनुष्य के बार-म्बार आवागमन का कारण है और विक्षेपशक्ति को यही क्रियमाण करती है।
—— जिस मनुष्य का इस आवरणशक्ति के साथ तनिकसा भी सम्बन्ध है, सम्यक् विचार का अभाव या उलटा विचार, सुनिश्चित विश्वास का अभाव और संशय उसका साथ कभी नहीं छोड़ते। और तब विक्षेपशक्ति अनवरत कष्ट देती है।†

रजोगुण की विक्षेपशक्ति और तमोगुण की आवरण-शक्ति मन में ही निहित है। उनकी प्रधानता होने से मनोनिग्रह कठिन हो जाता है। तथापि मन का एक घटक और है जिसके कारण हताशा पर रोक लगती है। यह घटक है सत्त्वगुण, जो मिश्रित या शुद्ध अवस्था में मिलता है। इस सन्दर्भ में वेदान्त की शिक्षा है ——

सत्त्वं विशुद्धं जलवत्तथापि ताभ्यां मिलित्वा सरणाय कल्पते।
यत्रात्मबिम्बः प्रतिबिम्बितः सन् प्रकाशयत्यर्क इवाखिलं जड़म्॥
मिश्रस्य सत्त्वस्य भवन्ति धर्मास्त्वमानिताद्या नियमा यमाद्याः।
श्रद्धा च भक्तिश्च मुमुक्षुता च दैवी च सम्पत्तिरसन्निवृत्तिः॥
विशुद्धसत्त्वस्य गुणाः प्रसादः स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः।
तृप्तिः प्रहर्षः परमात्मनिष्ठा यया सदानन्दरसं समृच्छति॥

—— शुद्ध सत्त्व निर्मल जल के समान है, परन्तु रज और तम से उसका संयोग होने पर वह संसार का कारण बनता है।

† श्री शंकराचार्य, 'विवेकचूड़ामणि', १११-१३,१५।

आत्मतत्त्व सत्त्व में प्रतिबिम्बित होता है और सूर्य के समान समग्र जड़-संसार को प्रकाशित कर देता है।

—— मिश्रित सत्त्व के धर्म ये हैं —— अभिमान का नितान्त अभाव आदि, तथा यम और नियम आदि, एवं श्रद्धा, भक्ति, मुमुक्षा, दैवी सम्पत्ति और असत् से निवृत्ति।

—— मनःप्रसाद, स्वात्मानुभूति, परम शान्ति, तृप्ति, आनन्द और परमात्मनिष्ठा —— ये विशुद्ध सत्त्व के धर्म हैं, जिनके द्वारा साधक सदानन्द-रस का अधिकारी होता है।†

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे अपने ही स्वभाव में मनोनिग्रह की जबर्दस्त बाधाएँ और सबल सहायक शक्ति दोनों विद्यमान हैं। इस तथ्य को जान लेना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतएव आवश्यकता है एक सम्यक् युद्धनीति की, जिससे विपरीत शक्तियाँ पराजित हो जायँ एवं सहायक शक्तियों को कार्य करने की पूरी छूट मिले। यह आँखों को बन्द करके घूँसे उछालने से नहीं सधेगा, बल्कि भीतरी शक्तियों के कुशलतापूर्वक नियमन से सम्भव होगा।

मनःसंयम के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या हम गुणों के तौल को अपने स्वभाव में इस प्रकार परिवर्तित कर सकते हैं, जिससे सत्त्व की प्रधानता हो जाय? स्वाभाविक ही इस समस्या पर दिये गये उपदेश हमारे लिए बड़े सहायक होंगे। श्रीमद्भागवत (११।१३। १-३) में हम पढ़ते हैं ——

---

† वही, ११७-१९।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः ।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि ॥
सत्त्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः ।
सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते ॥
धर्मो रजस्तमो हन्यात् सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः ।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते ॥

— सत्त्व, रज और तम, ये तीनों बुद्धि (प्रकृति) के गुण हैं आत्मा के नहीं । सत्त्व के द्वारा रज और तम इन दो गुणों पर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिए । तदनन्तर सत्त्वगुण की शान्ति-वृत्ति के द्वारा उसकी दया आदि वृत्तियों को भी शान्त कर देना चाहिए । जब सत्त्वगुण की वृद्धि होती है, तभी जीव को मेरे भक्तिरूप स्वधर्म की प्राप्ति होती है । निरन्तर सात्त्विक वस्तुओं का सेवन करने से ही सत्त्वगुण की वृद्धि होती है और तब मेरे भक्तिरूप स्वधर्म में प्रवृत्ति होने लगती है । जिस धर्म के पालन से सत्त्वगुण की वृद्धि हो, वही सबसे श्रेष्ठ है । वह धर्म रजोगुण और तमोगुण को नष्ट कर देता है । जब वे दोनों नष्ट हो जाते हैं, तब उन्हीं के कारण होनेवाला अधर्म भी शीघ्र ही मिट जाता है ।

हमारे उद्देश्य की पूर्ति में यह एक सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण सबक है कि सत्त्वगुण की वृद्धि से साधक आध्या-त्मिकता की प्राप्ति करता है; और आध्यात्मिकता की प्राप्ति तथा मन का निग्रह ये दोनों एक दृष्टि में समानार्थी हैं । अतएव मनोनिग्रह के इच्छुक व्यक्तियों के लिए सत्त्वगुण की वृद्धि के उपाय जान लेना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

वे सात्त्विक बातें और क्रियाएँ कौनसी हैं जिनके

द्वारा सत्त्व की प्रधानता लायी जा सकती है ? श्रीकृष्ण भागवत में ही (११।१३।४) आगे कहते हैं —

आगमोऽप: प्रजा देश: काल: कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतव: ॥

—— शास्त्र, जल, प्रजाजन, देश, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मंत्र और संस्कार--ये दस वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सत्त्वगुण की, राजसिक हों तो रजोगुण की और तामसिक हों तो तमोगुण की वृद्धि करती हैं।

उपर्युक्त श्लोक का तात्पर्य यह है कि ऊपर बतायी गयी दस चीजों में से प्रत्येक के सात्त्विक, राजसिक और तामसिक पहलू हुआ करते हैं; पहला पहलू पवित्रता, ज्ञानालोक और आनन्द की अभिवृद्धि करता है; दूसरा पहलू दु:खदायी प्रतिक्रिया को जन्म देनेवाला क्षणिक सुख प्रदान करता है, और तीसरा पहलू अज्ञान तथा अधिकाधिक बन्धन को जन्म देता है। भागवत का उपदेश (११।१३।५-६) आगे बढ़ता है —

तत्तत् सात्त्विकमेवैषां यद् यद् वृद्धा: प्रचक्षते।
निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तदुपेक्षितम् ॥
सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत् स्मृतिरपोहनम् ॥

—— इनमें से शास्त्रज्ञ महात्मा जिनकी प्रशंसा करते हैं वे सात्त्विक हैं, जिनकी निन्दा करते हैं वे तामसिक हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं वे वस्तुएँ राजसिक हैं। जब तक अपने आत्मा का साक्षात्कार तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर और उनके कारण तीनों गुणों की निवृत्ति न हो, तब तक मनुष्य को चाहिए कि सत्त्वगुण की वृद्धि के लिए सात्त्विक शास्त्र आदि का ही सेवन करे; क्योंकि

इससे धर्म की वृद्धि होती है और धर्म की वृद्धि से अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है।

अन्तिम श्लोक का मथितार्थ यह है—

केवल उन्हीं शास्त्र-ग्रन्थों का अनुसरण करना चाहिए जो निवृत्ति का—ब्रह्म के एकत्व में वापस जाने का पाठ पढ़ाते हों। प्रवृत्ति या अनेकात्मक राजसिकता का अथवा हानिकारक तामसिकता का पाठ पढ़ानेवाले ग्रन्थों का अनुसरण नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार, पवित्र जल का व्यवहार करना चाहिए, सुगन्धित जल या मद्य का नहीं, आदि आदि। साधक को आध्यात्मिक रुचिसम्पन्न लोगों से ही मेल-जोल रखना चाहिए, संसारी या दुष्ट लोगों से नहीं। एकान्त स्थान का चुनाव करना चाहिए, राजमार्ग या खेल की जगह का नहीं। विक्षेप या अवसाद को बढ़ावा देनेवाले समय में ध्यानाभ्यास करने के बदले ब्राह्म मुहूर्त को ध्यान के अभ्यास के लिए चुनना चाहिए। केवल ऐसे कर्म करने चाहिए जो अनिवार्य हों और निःस्वार्थ हों; स्वार्थयुक्त या हानिकारक कर्मों से दूर रहना चाहिए। धर्म के शुद्ध और हानिरहित रूपों को ग्रहण करना चाहिए तथा दिखावा-प्रदर्शन वाले एवं अशुद्ध और हानिकारक रूपों को त्याग देना चाहिए। ध्यान ईश्वर का करना चाहिए, विषय-भोगों का नहीं। प्रतिशोध लेने की भावना से शत्रु का ध्यान वर्जनीय है। ॐ आदि मन्त्रों का ही ग्रहण करना चाहिए। सांसारिक उन्नति प्रदान करनेवाले या दूसरों की क्षति करनेवाले मंत्रों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। केवल शरीर-सौष्ठव या घर-द्वार को साफ-सुथरा रखना ही हमारा उद्देश्य नहीं है। मन की शुद्धि ही हमारा परम प्रयोजन हो।†

उपर्युक्त श्लोकों में प्रामाणिकता के साथ यह उपदेश

† भागवत, ११।१३।६, श्रीधर-टीका।

निबद्ध है कि हम अपने मन के गुणमिश्रण में वांछित परिवर्तन कैसे साधित करें। यह भीतरी परिवर्तन ही मनोनिग्रह का रचनात्मक और विधेयात्मक पहलू है। जब तक यह साधित नहीं होता, तब तक मनोनिग्रह की दिशा में यथार्थतः कोई कदम नहीं रखा जा सकता।

जब इस प्रकार अभ्यास के द्वारा साधक अपने स्वभाव में सत्त्व की प्रधानता लाने में समर्थ होता है, तो समझना चाहिए कि उसने मनःसंयम की लड़ाई को आधे से अधिक जीत लिया, किन्तु पूरा नहीं। इसका कारण यह है कि सत्त्व भी अन्ततोगत्वा मनुष्य के लिए बन्धनकारक है। गीता (१४।५-६) कहती है——

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥

— हे महाबाहो! प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण इस अविनाशी देही (जीवात्मा) को शरीर में जकड़कर बाँध देते हैं। हे निष्पाप! इन तीनों गुणों में प्रकाश करनेवाला निर्मल और विकाररहित सत्त्वगुण भी सुख की आसक्ति से और ज्ञान की आसक्ति से (अर्थात् ज्ञानाभिमान से) बाँधता है।

श्रीरामकृष्ण अपने 'बटोही और तीन डाकू' के चुटकुले में इसी बात को निम्नलिखित ढंग से रखते हैं——

यह संसार ही जंगल है। इसमें सत्त्व, रज, तम ये तीन डाकू रहते हैं। वे जीवों का तत्त्वज्ञान छीन लेते हैं। तमोगुण

मारना चाहता है, रजोगुण संसार में फँसाता है, पर सत्त्वगुण रज और तम से बचाता है। सत्त्वगुण का आश्रय मिलने पर काम, क्रोध आदि तमोगुणों से रक्षा होती है। फिर सत्त्वगुण जीवों का संसार-बन्धन तोड़ देता है, पर सत्त्वगुण भी डाकू है, वह तत्त्वज्ञान नहीं दे सकता। हाँ, वह जीव को उस परमधाम में जाने की राह तक पहुँचा देता है और कहता है, "वह देखो, तुम्हारा मकान वह दिख रहा है!" जहाँ ब्रह्मज्ञान है, वहाँ से सत्त्वगुण भी बहुत दूर है।†

गीता ने जो यह कहा कि 'सत्त्वगुण भी सुख की आसक्ति और ज्ञान की आसक्ति से बाँधता है', तथा श्रीरामकृष्ण ने जो यह बताया कि 'सत्त्वगुण भी डाकू है', इन दोनों कथनों का मनोवैज्ञानिक अभिप्राय यह है कि स्वभाव में सत्त्वगुण की प्रधानता का मतलब पूर्ण मनोनिग्रह नहीं समझना चाहिए। पूर्ण मनोनिग्रह के लिए तो गुणों के भी परे जाना पड़ता है। श्रीकृष्ण गीता के चौदहवें अध्याय में गुणों के परे जाने का उपाय बतलाते हैं। वहाँ २६ वें श्लोक में वे समूचे रहस्य को अत्यन्त सरल भाषा में, बिना किसी गूढ़ शब्दावली का प्रयोग किये, समझाते हुए कहते हैं——

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

——और जो अव्यभिचारी (कभी न टलनेवाले) भक्तियोग से सम्पन्न हो मुझे भजता है, वह गुणों का अतिक्रमण कर ब्रह्म में एकीभाव प्राप्त करने के लिए योग्य होता है।

---

† श्रीरामकृष्णवचनामृत, भाग १, पृष्ठ ३६३ (पंचम संस्करण)।

पर बात यह है कि शुद्धहृदय व्यक्ति ही अव्यभिचारी भक्ति से भगवान् को भज सकता है। यदि हमें ऐसा लगे कि हमारा हृदय तो उतना पवित्र नहीं है, अतः अटल भक्ति की साधना हमसे नहीं हो सकेगी, तो हमें हताश नहीं होना चाहिए। निष्ठापूर्वक भक्ति की साधना में लगे रहने से हम क्रमशः अधिकाधिक स्थिर और पवित्र होते जायेंगे।

यदि कतिपय कारणों से हम गुणों के परे जाने के इस 'सरलतम उपाय' को अपने काम में न ला सके, तो मनोनिग्रह के दूसरे तरीके हमारे लिए खुले हुए हैं।

तम और रज को जीतने के साथ साथ हमें सत्त्व को जीतने की कला भी जाननी चाहिए। श्री शंकराचार्य यह कला सिखाते हुए कहते हैं--

तमो द्वाभ्यां रजः सत्त्वात् सत्त्वं शुद्धेन नश्यति।
तस्मात् सत्त्वमवष्टभ्य स्वाध्यासापनयं कुरु॥

--तम का नाश रज और सत्त्व दोनों से होता है, रज का सत्त्व से और सत्त्व, शुद्ध होने से नष्ट हो जाता है। अतएव सत्त्व का सहारा लेकर अपने अध्यास (अज्ञान) को दूर कर डालो।†

(क्रमशः)

---

† विवेकचूड़ामणि, २७८।

स्वामी विरजानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

कलकत्ता के सिमला मुहल्ले में श्री त्रैलोक्यनाथ वसु का भवन है। उनके चार पुत्र हैं, किन्तु वे अपने ज्येष्ठ पुत्र को लेकर बड़े चिन्तित हैं। ऐसे तो उनका यह पुत्र बहुत मेधावी और शान्त है, पर आजकल उसकी गम्भीरता बहुत बढ़ गयी है। अनेक दिनों से पिता ने उसे पढ़ते-लिखते भी नहीं देखा। वह बहुत उदासीन दिखता है। प्रायः घर के बाहर ही समय बिताता है। केवल भोजन और सोने के लिए घर आता है। घरवालों से ठीक बातचीत भी तो नहीं करता, जिससे उसके मन को टटोला जा सके। पर यूँ ही इस बात को कहाँ तक टाला जाय ? त्रैलोक्यनाथ उसके मन की थाह लेंगे ही। वे उसे बुलाते हैं। पूछते हैं, "तुम क्या चाहते हो ? बताओ तो।" वह धीर स्वर में कहता है, "मुझे पढ़ना-लिखना अच्छा नहीं लगता। भगवान् को पाने की इच्छा से अपना अधिक से अधिक समय साधन-भजन में बिता रहा हूँ।" पुत्र की क्या उम्र रही होगी भला ? यही कोई सत्रह साल। घर में इतने छोटे लड़कों की बातें महत्त्व नहीं रखा करतीं। पर त्रैलोक्यनाथ ऐसा नहीं समझते। वे उसे समझाते हैं—"संसार और भगवान् दोनों की सिद्धि एक साथ नहीं हो सकती। संसार में उन्नति करने के लिए अच्छी तरह से मन लगाकर पढ़ो। अगर भगवान् को पाना

चाहते हो, तो मन-प्राण से साधन-भजन में डूब जाओ। तुम क्या करना चाहते हो, इसका निश्चय कर लो। सोचने-विचारने के लिए मैं तुम्हें तीन दिन का समय देता हूँ।"

तीन दिन सम्भवतः पुत्र के लिए काफी थे। तीसरे दिन उसने अपने पिता को बताया, "मैंने निश्चय किया है कि मैं भगवान् को पाने का प्रयास करूँ। यदि मैं परमहंस देव के शिष्यों के साथ वराहनगर मठ में रहूँ, तो मेरे विचार से मुझे इस पथ पर बड़ी सहायता मिलेगी।" पुत्र के दृढ़ निश्चय को सुनकर त्रैलोक्यनाथ का हृदय भर आया। भावोच्छ्वसित कण्ठ से उन्होंने कहा, "अच्छी बात है, लेकिन आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिए गर्भधारिणी की अनुमति भी आवश्यक है। तुम जान लो कि इसमें मेरी तनिक भी आपत्ति नहीं है। यदि मेरे चार पुत्रों में से एक आध्यात्मिक जीवन अपनाता है, तो यह अच्छी ही बात होगी।" माता ने पुत्र की इच्छा जानकर कहा, "बेटा! हृदय तो नहीं मानता, पर मैं तुम्हारे धर्म-पथ की बाधा क्यों बनूँ? मुझे कोई आपत्ति नहीं है। पर तीन दिन और रुक जाओ। फिर तुम चले जाना।" गर्भधारिणी की उक्ति धर्म के इतिहास में विरल है। केवल अनुमति ही नहीं, प्रत्युत माता ने अपने हाथों से अपने पुत्र के वस्त्रों को गेरू से रँगा और परमहंस देव के भोग के लिये प्रसाद तैयार कर पुत्र के हाथ दे दिया। सत्रह वर्ष के पुत्र को माता-पिता ने सजल नेत्रों से इष्ट-प्राप्ति का आशीर्वाद दिया। ऐसे महान् माता-पिता की सन्तान

भी महान् ही होती है। इसीलिए तो किशोर कालीकृष्ण को युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द की कृपा-कौमुदी प्राप्त हुई और उसका जीवन ज्ञान-सूर्य के आलोक से भास्वर हो उठा। यही कालीकृष्ण कालान्तर में स्वामी विरजानन्द के नाम से प्रख्यात हुआ, जिसके अमित श्रम से विश्व में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा का प्लावन हुआ है।

कालीकृष्ण वसु के पिता त्रैलोक्यनाथ वसु कलकत्ता के प्रख्यात चिकित्सक थे। वैसे तो उनका पैतृक स्थान दक्षिण परगना का कोदालिया नामक गाँव था, पर उनके पिता रामरतन वसु काम-धाम के सिलसिले में कलकत्ता में आकर बस गये थे। उन्होंने सिमला मुहल्ले में मकान भी बना लिया था। यह वही मकान था, जहाँ स्वामी विवेकानन्द बाल्यकाल में खेला करते थे। यहाँ चम्पा का एक वृक्ष भी था। इस वृक्ष की डालों को पकड़कर झूलना बालक नरेन्द्रनाथ को बड़ा प्रिय था। चम्पा की डालें बहुत पतली होती हैं। इस भय से कि कहीं डाल टूटने से लड़के गिर न जाएँ, एक वृद्ध ने उन्हें डराते हुए कहा था, "चम्पा में ब्रह्मराक्षस रहता है। इस पर चढ़ोगे तो वह तुम्हारा गला टीप देगा।" अन्य बालक तो डरकर भाग गये थे, पर दुर्धर्ष नरेन्द्रनाथ चम्पा पर चढ़े झूलते रहे और अपने भयभीत साथियों को बुलाते हुए बोले, "अरे, उस बूढ़े की बात क्या सुनते हो? अगर ब्रह्मराक्षस होता, तो उसने हम लोगों का गला कब का टीप दिया होता!" नरेन्द्रनाथ और उनके साथियों

को डरानेवाले ये वृद्ध कालीकृष्ण के पितामह रामरतन ही थे। नरेन्द्रनाथ का घर भी सिमला में था और वे कालीकृष्ण के काका अमृतलाल वसु के सहपाठी थे। रामरतन तब अपने पुत्र त्रैलोक्यनाथ को डाक्टरी पढ़ा रहे थे। इसी बीच उन्होंने उसका विवाह भी अहीरटोला के श्री विनोदबिहारी की कन्या श्रीमती निषादकाली से कर दिया था। विनोदबिहारी बड़े ही धार्मिक पुरुष थे। संसार के विभिन्न कार्यों को करते हुए वे प्रतिदिन एक लाख मंत्र जपा करते। कालीकृष्ण को यह आध्यात्मिकता माँ के दूध के साथ ही मिली थी।

कालीकृष्ण के नामकरण की घटना बड़ी मनोरंजक है। १० जून, सन् १८७३ को कालीकृष्ण का जन्म हुआ था। पितामह रामरतन कुलदीपक के आगमन से हर्ष-विगलित स्वर में 'काली, काली' कह उठे थे। नाना विनोदबिहारी भी तब वहाँ थे। उन्होंने भी दोहते के जन्म का समाचार पाकर 'नारायण हरि' का स्मरण किया। रामरतन जहाँ काली के भक्त थे, वहाँ विनोदबिहारी के इष्ट थे कृष्ण। दोनों के इष्टदेवों के नाम का प्रथमांश लेकर नवजात का नाम कालीकृष्ण रखा गया।

जन्म से ही कालीकृष्ण असाधारण प्रवृत्तियों से युक्त थे। कुछ ही दिनों में परिजनों ने जान लिया कि यह नवजात शिशु बड़ा विलक्षण है। वह माता के स्तन में मुख नहीं लगाता था और न रात को सोता था। सुलाते ही वह रोना शुरू कर देता। दिन को वह सो लेता और

रात को गोद में बैठकर चन्द्रमा को देखते रहना चाहता। इन विलक्षणताओं से युक्त कालीकृष्ण का जन्म परिवार के लिए बड़ा शुभ सिद्ध हुआ। थोड़े ही दिनों बाद उसके पिता महिषादल राज्य के स्टेट चिकित्सक नियुक्त किये गये। इस अवधि में त्रैलोक्यनाथ को भरपूर यश और धन की प्राप्ति हुई। कुछ काल इस पद पर कार्य करनें के उपरान्त उन्होंने कलकत्ता में स्वतंत्र रूप से व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया। कुछ समय तक वे प्रसिद्ध बंग-नेता केशवचन्द्र सेन के भी गृह-चिकित्सक थे। सम्भवतः उन्हें इसी दौरान युगावतार श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन हुए थे।

बालक कालीकृष्ण की प्रारम्भिक शिक्षा कार्नवालिस स्ट्रीट की ट्रेनिंग एकेडमी में हुई। यहाँ वह छठी कक्षा तक रहा तथा बाद में उसे रिपन स्कूल में भरती किया गया। सन् १८९० ई० में उसने प्रवेशिका की परीक्षा उत्तीर्ण की। इस बीच उसके पिता ने नारिकेलडाँगा में मकान बनवा लिया था। प्रवेशिका की परीक्षा के बाद यद्यपि उसे कालेज पढ़ने के लिए भेजा गया, पर उसका मन पढ़ने-लिखने से उखड़ने लगा। वह प्रायः अपने सहपाठियों के साथ धर्म-चर्चा किया करता और जहाँ भी साधु-संन्यासी के आगमन का समाचार मिलता, वहाँ अपने साथियों के साथ उपस्थित हो जाता। जब वह रिपन स्कूल में था, तभी उसकी मित्रता खगेन्द्र चट्टोपाध्याय से हो गयी थी। कालेज में उसकी मैत्री सुधीर चक्रवर्ती, सुशील चक्रवर्ती, हरिपद चट्टोपाध्याय और

गोविन्द शुकुल से हुई। ये ही कालान्तर में स्वामी विवेकानन्द के अन्यतम शिष्य बने और क्रमशः स्वामी विमलानन्द, स्वामी शुद्धानन्द, स्वामी प्रकाशानन्द, स्वामी बोधानन्द और स्वामी आत्मानन्द के नाम से विख्यात हुए।

इन सहपाठियों के साथ कालीकृष्ण का अधिकांश समय धर्म-ग्रन्थों के पाठ, ध्यान और चिन्तन में बीतता था। उस समय कलकत्ता में महिम चक्रवर्ती की साधना-प्रणाली बड़ी लोकप्रिय थी। महिम चक्रवर्ती ने श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन किये थे तथा उन्होंने आध्यात्मिक साधना हेतु जिज्ञासु साधकों का एक दल बनाया था। कालीकृष्ण भी अपने सहपाठियों के साथ वहाँ जाया करते। कालीकृष्ण के पिता धार्मिक ग्रन्थों के नियमित अध्येता थे। उन्हीं के पास कालीकृष्ण को श्रीरामकृष्ण देव से सम्बन्धित कई पुस्तकें मिलीं। इनमें प्रमुख थीं रामचन्द्र दत्त लिखित 'श्रीश्रीरामकृष्ण देवेर जीवन-वृत्तान्त', 'तत्त्व-प्रकाशिका' और सुरेशचन्द्र दत्त संकलित 'श्रीरामकृष्ण देवेर उपदेश'। इन पुस्तकों ने कालीकृष्ण और उनके साथियों की जीवन-दिशा ही बदल दी। कालीकृष्ण और खगेन निर्जन स्थान में बैठकर ध्यान करते। कालीकृष्ण तो घर में भी अपने कमरे का दरवाजा बन्द कर साधना करने लगे।

युगावतार की जीवन-कथा और उपदेशों ने कालीकृष्ण और खगेन के मन में वैराग्य की ज्योति जला दी। उन्हें सारा संसार निस्सार प्रतीत होने लगा। उनकी यह दृढ़ धारणा हो गयी कि ईश्वर के दर्शन में ही जीवन की

सार्थकता है। एक दिन दोनों मित्रों ने निश्चय किया कि वे संसार का त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लेंगे। निश्चित तिथि पर जैसे ही गृह-त्याग कर वे ईश्वर-प्राप्ति के पथ पर बढ़ना चाहते थे, खगेन के पड़ोसी नन्दबाबू ने उन्हें भुलावा देकर रोक लिया। नन्दबाबू विजयकृष्ण गोस्वामी के शिष्य थे तथा खगेन की उन पर अपार श्रद्धा थी। जब नन्दबाबू को खगेन के गृह-त्याग की सूचना मिली, तो वे तत्काल उनके घर पहुँचे और उन्हें पुकारकर कहा, "क्या तुम दोनों संसार का त्याग कर रहे हो? मैंने ध्यान में देखा है कि इससे तुम पर बड़ी विपदाएँ आएँगी और तुम्हारा अमंगल होगा।" खगेन नन्दबाबू को बहुत बडा साधक समझते थे। फलतः उनकी बातों पर विश्वास कर उनका महाभिनिष्क्रमण उस समय रुक गया और कालीकृष्ण अपने घर लौट आये।

इसी बीच कालीकृष्ण ने एक विज्ञप्ति पढ़ी कि जन्माष्टमी के उपलक्ष में काकुड़गाछी योगोद्यान में भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का नित्याविर्भाव उत्सव मनाया जायगा। कालीकृष्ण बड़ी आकुलता के साथ जन्माष्टमी की प्रतीक्षा करने लगे। उस दिन श्रीरामकृष्ण देव के गृही भक्त रामचन्द्र दत्त के घर से विराट् शोभा-यात्रा निकलनेवाली थी। कालीकृष्ण भी खगेन के साथ वहाँ गये। रामचन्द्र दत्त इन दोनों का परिचय पाकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव की अनेक बातें उन्हें बतायीं। कालीकृष्ण अब एक नये भाव-जगत् में विचरण

करने लगे। वे प्रतिदिन पूजा के समय वहाँ उपस्थित हो जाते। कुछ दिनों पश्चात् रामचन्द्र दत्त ने ठाकुर की भोग-पूजा का भार इन्हें ही सौंप दिया। कालीकृष्ण और खगेन भिक्षादि के द्वारा सारा प्रबन्ध करने लगे।

रिपन कालेज में 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के रचयिता श्री महेन्द्रनाथ गुप्त अंग्रेजी पढ़ाया करते थे। उनके प्रशान्त व्यक्तित्व से अनेक छात्र प्रभावित थे। कालीकृष्ण भी उनके सम्पर्क में आये। धीरे धीरे उनका सम्पर्क घनिष्ठ आत्मीयता में बदल गया। महेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण देव के संस्मरण बड़े उत्साह से बताया करते और कालीकृष्ण चिरतृषित भाव से सुना करते। एक दिन कालीकृष्ण अकेले ही उनके घर पहुँचे। जब महेन्द्रनाथ को यह पता चला कि कालीकृष्ण काकुड़गाछी के योगोद्यान में नियमित रूप से जाया करते हैं, तो वे उन पर बड़े प्रसन्न हुए। श्रीरामकृष्ण देव के विषय में कालीकृष्ण की तीव्र जिज्ञासा को देखकर उन्होंने कहा, "देखो, ठाकुर तो थे कामिनी-कांचन-त्यागी। उन्हें ठीक-ठीक समझने के लिए उनके कामिनी-कांचन-त्यागी शिष्यों का सत्संग करना होगा। वराहनगर मठ में जाकर देखो कि उनकी त्यागी सन्तानें किस प्रकार सर्वस्व त्यागकर जीवन-यापन कर रही हैं। गृहस्थ चाहे कितने भी बड़े भक्त क्यों न हों, पर वे ठाकुर के भाव को ठीक-ठीक नहीं बता सकेंगे।" श्रीरामकृष्ण देव के विरागी शिष्यों का पता बताकर महेन्द्रनाथ ने कालीकृष्ण को एक नयी दिशा दी, उनके

हृदय में एक नवीन प्रेरणा का संचार किया। कालीकृष्ण वराहनगर जाने के लिए व्याकुल हो उठे।

एक दिन वे कालेज से ही खगेन, हरिपद और कुंज के साथ वराहनगर की ओर चल पड़े। इस घटना का स्मरण करते हुए उन्होंने बाद में बताया था—"वह गरमी का दिन था। रास्ता न जानने के कारण हम लोग साढ़े दस बजे से चलते-चलते एक बजे के लगभग वराहनगर मठ में पहुँचे। तब सब लोग बड़े कमरे में विश्राम कर रहे थे। ऐसा लगता है कि उस दिन मठ में शशि महाराज, निरंजन महाराज, बूढ़े गोपाल महाराज, योगीन महाराज, लाटू महाराज, खोका महाराज, सारदा महाराज और दक्ष महाराज ही थे। हम लोगों ने प्रणाम किया। सबने हमारा स्वागत करते हुए हमें बैठाया और पूछा—कहाँ से आ रहे हो? क्या करते हो? कहाँ रहते हो? मठ का पता कैसे जाना? आदि आदि। हमारी बातें जानकर वे बड़े प्रसन्न हुए तथा हमें काफी उत्साहित किया। उन्हें देखकर हमें एक नयी अनुभूति हुई। हमें ऐसा लगा मानो हम संसार को छोड़कर कहीं अन्यत्र चले आये हैं। यद्यपि वह मकान बहुत पुराना था तथा दरवाजे टूटे हुए थे, तथापि वहाँ एक प्रखर आध्यात्मिक भाव परिव्याप्त था। उन लोगों का मुखमण्डल दीपशिखा की भाँति भास्वर था।" वहाँ पर कालीकृष्ण को ज्ञात हुआ कि छः महीने पूर्व स्वामी विवेकानन्द परिव्रजन में निकल गये हैं। वे लोग चार बजे तक वराहनगर मठ में रुके रहे,

फिर मन्दिर खुलने पर दर्शन-प्रसाद प्राप्त कर वापस लौट आये ।

वराहनगर मठ के प्रथम दर्शन ने कालीकृष्ण के हृदय पर गहरा प्रभाव डाल दिया । उन्हें लगा कि "हम वहाँ क्या गये, एक नये ही राज्य में चले गये । वहाँ सब-कुछ विलक्षण था । उनके जीवन ने, उनके दर्शन ने और उनकी बातचीत ने बहुत गहरा प्रभाव डाला । हमें एक नया आलोक, एक नया जगत् मिल गया !"

तब से कालीकृष्ण समय मिलते ही वराहनगर मठ चले जाते । धीरे धीरे सभी संन्यासियों से उनकी घनिष्ठता हो गयी । यद्यपि वे पढ़ने में अच्छ थे, पर गणित विषय में उनकी पैठ नहीं थी । यह जानकर शशि महाराज ने उनसे कहा, "तुम गर्मी की छुट्टियों में डेढ़ महीना वराहनगर मठ आकर रहो, तुम्हें ऐसा गणित सिखा दूँगा कि फेल होने का डर नहीं रहेगा !" कालीकृष्ण ने ऐसा ही किया । अपने पिता से अनुमति लेकर वे वराहनगर मठ चले आये । मठ के आध्यात्मिक वातावरण में तथा अन्यान्य कार्यों में वे इतने डूब गये कि वे भूल गये कि वे गणित स खने के लिए वहाँ गये हैं । डेढ़ महीने पलक मारते बीत गये । कालेज खुलने पर उन्हें विवश होकर घर लौटना पड़ा । पर वे अधिक दिनों तक घर में न रुक सके । उनका मन संसार से उचाट हो गया । पढ़ाई-लिखाई का चाव जाता रहा और वे अधिकाधिक रूप से ध्यान और साधना में लग गये । सांसारिक विषयों के

प्रति अपने पुत्र की तीव्र विरक्ति को त्रैलोक्यनाथ ने भाँप लिया और उन्होंने उससे स्पष्ट रूप से बातें कीं। पुत्र की महती इच्छा को जानकर उन्होंने सहर्ष उसे धर्म-जीवन बिताने की अनुमति प्रदान कर दी।

कालीकृष्ण जब अपने माता-पिता से साधु-जीवन बिताने का आशीर्वाद लेकर वराहनगर मठ पहुँचे, तो उन्हें देखकर सभी अतीव प्रसन्न हो उठे। यह उनकी सेवा और साधना का काल था। मठ के बहुविध कार्यों को कुशलतापूर्वक करते हुए वे गहनतर तपस्या में प्रवृत्त हुए। वे स्वामी रामकृष्णानन्द के प्रमुख सहायक थे। बीच बीच में समय निकालकर वे स्वामी निरंजनानन्द के साथ दक्षिणेश्वर चले जाते और पंचवटी में बैठकर गहन ध्यान में लीन हो जाते। श्रीरामकृष्ण के संन्यासी-शिष्य इस नवागत ब्रह्मचारी के सेवा-भाव को देखकर मुग्ध थे। स्वामी सारदानन्द ने आश्चर्य से भरकर कहा था—"अरे, यह लड़का कौन है जो माता के समान सेवा करता है ?"

कुछ दिनों पश्चात् कालीकृष्ण स्वामी निरंजनानन्द और रामलाल दादा के साथ गया, बोधगया आदि तीर्थ-स्थानों को गये थे. सन् १८९२ में श्रीमाँ सारदा देवी ने जयरामवाटी में जगद्धात्री पूजा का संकल्प किया। अतः स्वामी सारदानन्द पूजा की सामग्री लेकर जयरामवाटी जा रहे थे। उन्होंने कालीकृष्ण को भी अपने साथ चलने को कहा। यह अतीव प्रसन्नता की बात थी। कालीकृष्ण

मुदित मन से मातृचरणों के दर्शन करने जयरामवाटी पहुँचे। श्रीमाँ कालीकृष्ण को देखते ही हर्ष से भर उठीं और उनका चिबुक पकड़कर चुम्बन लिया। अनेक दिन श्रीमाँ के चरणों में बिताकर कालीकृष्ण वापस लौटे। मार्ग में उन्हें मलेरिया बुखार हो आया। चिकित्सा की सुविधा की दृष्टि से उन्हें कलकत्ता में बलराम-मन्दिर में रखा गया, पर भग्न स्वास्थ्य सुधरने का नाम नहीं लेता था। सन् १८९३ में श्रीमाँ सारदा बेलुड़ के नीलाम्बर मुखर्जी के मकान में रहने आयीं। एक दिन कालीकृष्ण उनके दर्शन के लिए गये। सन्तान की अस्वस्थता को देखकर श्रीमाँ द्रवित हो उठीं। उन्होंने कालीकृष्ण से कहा, "बेटा! तुम्हें देखकर मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। तुम्हारा स्वास्थ्य कितना अच्छा था, पर देखो, मलेरिया से कैसा हो गया है! ये लोग तो साधु-फकीर हैं। ये भला तुम्हें क्या खिलायेंगे? ऐसा करो, तुम कुछ दिन घर जाकर रहो। चिकित्सा और पथ्य से शरीर को पुष्ट कर लो।" श्रीमाँ का आदेश सुनकर कालीकृष्ण पर मानो वज्रपात हो गया। दुःख से भरकर वे रोने लगे। तब स्वामी योगानन्द ने उन्हें समझाया और श्रीमाँ से मंत्र-दीक्षा ग्रहण करने की सलाह दी। दूसरे दिन श्रीमाँ से मंत्र-दीक्षा प्राप्त कर कालीकृष्ण मठ लौट आये। श्रीमाँ की कृपा से उनका जीवन एक नयी चेतना से भर उठा। उनका सारा विषाद मिट गया। उन्होंने निश्चय किया कि वे नारिकेलडाँगा लौटकर स्वास्थ्य-लाभ करेंगे और साधना में लीन

हो जायेंगे।

नारिकेलडाँगा में घर पहुँचकर कालीकृष्ण ने बहुत द्रुत गति से स्वास्थ्य-लाभ किया। साथ ही वे अधिकाधिक रूप से ध्यान-चिन्तन में डूबते चले गये। बीच बीच में बेलुड़ मठ से शरत् महाराज, बाबूराम महाराज तथा अन्य लोग उनके पास आते-जाते रहते थे, पर कालीकृष्ण का वीतराग मन अब और अधिक घर पर नहीं रुकना चाहता था। वे भगवत्प्राप्ति के पथ पर आगे बढ़ना चाहते थे। इसलिए उन्होंने श्रीमाँ को एक मार्मिक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने सूचित किया कि वे वृन्दावन जाकर तपस्या करना चाहते हैं। उन्होंने श्रीमाँ के आशीर्वाद एवं उनकी आज्ञा की कामना की। श्रीमाँ ने सहज अनु-मति दे दी। कालीकृष्ण ने पुनः मुक्त विहग की भाँति आध्यात्मिकता के आकाश में विचरण का सुअवसर प्राप्त किया। वे तत्काल आलमबाजार मठ चले गये और जयरामवाटी जाकर श्रीमाँ का आशीर्वाद प्राप्त किया। फिर वे काशी होते हुए वृन्दावन पहुँचे। वहाँ स्वामी प्रेमानन्द तपस्या कर रहे थे। कालीकृष्ण उन्हीं के साथ कालाबाबू के कुंज में निवास करते हुए तपोलीन हो गये। वृन्दावन में उन्होंने लगभग डेढ़ वर्ष तपस्या की थी। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि स्वामी विवेकानन्द शीघ्र स्वदेश लौट रहे हैं, तो वे भी मठ के लिए रवाना हो गये। जयराम-वाटी में श्रीमाँ के दर्शन कर वे आँटपुर चले गये और वहाँ कुछ दिन बिताकर तारकेश्वर होते हुए कलकत्ता आ

गये। यहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि स्वामीजी तो बहुत दिनों पहले पहुँच चुके हैं।

कालीकृष्ण के हृदय में स्वामीजी के दर्शन की अदम्य इच्छा थी। इतने दिनों तक जिन्हें हृदय-सम्पुट में बिठाकर रखा है, आज उनको सशरीर देखने का सौभाग्य मिलेगा! मठ पहुँचकर उन्होंने स्वामीजी को प्रणाम किया। हर्ष शरीर में समा नहीं पा रहा था। स्वामीजी ने भरपूर दृष्टि से कालीकृष्ण को देखा और कहा—"अच्छा, यही लड़का है?" कितनी सम्मोहक दृष्टि थी उनकी! कितना अपूर्व रूप था उनका!! और कितना प्रभविष्णु था उनका तेजोद्दीप्त व्यक्तित्व!!! उनकी ओर देखने से आँखें चौंधिया-सी जाती थीं। कुछ दिनों बाद स्वामीजी ने कालीकृष्ण आदि चार लोगों को संन्यास-व्रत में दीक्षित किया और इसी समय उन्हें स्वामी विरजानन्द का नाम प्राप्त हुआ। संन्यास प्रदान कर स्वामीजी ने नवदीक्षित संन्यासियों से कहा—"तुम लोगों ने मानव-जीवन का श्रेष्ठ व्रत ग्रहण किया है। तुम्हारा जन्म धन्य है, तुम्हारा वंश धन्य है, तुम्हारी माता धन्य है—कुलं पवित्रं जननी कृतार्था।"

अब विरजानन्द को अपने अप्रतिम गुरु के चरणों में रहने का दुर्लभ योग उपलब्ध हुआ। उन्हीं से विरजानन्द को कर्म, वैराग्य, त्याग और भक्ति के समन्वित आदर्श की शिक्षा मिली। कालान्तर में वे गुरुदेव की आज्ञा से दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता करने देवघर भी गये थे।

स्वामीजी चाहते थे कि वेदान्त के सार्वभौमिक सन्देश का प्रचार विश्व के कोने-कोने में हो। इसी दृष्टि से उन्होंने नवदीक्षित संन्यासियों और ब्रह्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की थी। मठ में नियमित रूप से शास्त्राभ्यास कराया जाता तथा धार्मिक विषयों पर वक्तृताएँ भी होतीं। एक बार स्वामीजी ने विरजानन्द और प्रकाशानन्द को धर्म-प्रचार हेतु ढाका जाने का आदेश दिया। प्रकाशानन्द तो सहमत हो गये, पर विरजानन्द को हिच-किचाहट होने लगी। उन्होंने कहा, "मैं क्या जानता हूँ, जो कहूँगा ?" स्वामीजी बोले, "अच्छा, तुम यही कहना कि 'मैं कुछ नहीं जानता' ! यह कहना अच्छी शिक्षा देना है। 'मैं सब जानता हूँ' यह भाव अज्ञान है।" फिर भी विरजानन्द प्रचार-कार्य के लिए तैयार नहीं हुए, तब स्वामीजी ने उन्हें समझाया—"देख, अगर खुद की मुक्ति खोजेगा तो निश्चय ही जहन्नुम में जायेगा और यदि दूसरों की मुक्ति के लिए कार्य करेगा तो तत्काल मुक्त हो जायगा।" गुरुदेव की इस प्रबोध वाणी से विरजानन्द कुछ आश्वस्त तो हुए, पर वे प्रचार-कार्य का समुचित साहस न जुटा पाये। उन्होंने फिर कहा, "मैंने साधन-भजन कुछ नहीं किया है। अब तक मैं भगवान् को भी नहीं पा सका हूँ। मैं भला क्या वक्तृता दूँगा ?" स्वामीजी ने कहा, "तुम आचार्य का अभिमान रखकर तो शिक्षा नहीं दोगे। जिस प्रकार तुम सेवा-भाव से अन्य दस कार्य करते हो, उसी भाव से वक्तृता भी देना।"

इससे विरजानन्द का संशय दूर तो हुआ, पर प्रचार-कार्य की हिचकिचाहट पूरी तरह से नहीं गयी। एक दिन स्वामीजी ने उन्हें और प्रकाशानन्द को मन्दिर में बुलाया और उनके सिर पर हाथ रखते हुए खूब आशीर्वाद देते हुए कहा, "विश्वास करो, उनकी शक्ति तुममें संक्रमित हुई है। संघ को ही श्रीरामकृष्ण देव का समष्टि-शरीर समझना।" विरजानन्द को शक्तिपात की-सी अनुभूति हुई। वे आत्मविश्वास और उत्साह से भर उठे। उनका जीवन 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' के लोकोत्तर आदर्श के प्रति समर्पित हो उठा। युगाचार्य की विद्युद्-वाणी ने शिष्य की शिराओं को झनझना दिया। मानो उनका एक नया जन्म, आध्यात्मिक जन्म हुआ। उन्होंने निःसंशय होकर गुरुदेव के चरणों में प्रणाम किया और ढाका चले आये। यहाँ उन्होंने ढाका, मैमनसिंह, बरिशाल आदि स्थानों में घूम-घूमकर श्रीरामकृष्ण देव के सन्देश का प्रचार किया।

पूर्व बंगाल को युगावतार का दिव्य सन्देश सुनाकर विरजानन्द वापस लौटे। स्वामी विवेकानन्दजी का शरीर अत्यधिक परिश्रम के कारण क्लान्त हो चुका था। चिकित्सा की दृष्टि से वे तब बलराम-मन्दिर कलकत्ता में निवास कर रहे थे। विरजानन्द मन-प्राण से गुरुदेव की सेवा में लग गये। वे प्रायः रात-दिन जागते रहते। नींद उनकी आँखों के पास तक न फटकती। इसी भाँति तीन माह तक उन्होंने स्वामीजी की सेवा की थी। अनिद्रा

का कोई प्रभाव उन पर लक्षित नहीं हुआ, प्रत्युत उनका मुखमण्डल अपूर्व सेवा-भाव से दमकता रहता था। चिकित्सकों ने स्वामीजी को स्थान-परिवर्तन का सुझाव दिया। फलतः उनकी द्वितीय विदेश-यात्रा की तैयारी शुरू हो गयी। इस बार स्वामीजी के साथ तुरीयानन्दजी और भगिनी निवेदिता भी थीं।

स्वामीजी के वियोग से विरजानन्द की आँखों में आँसू भर आये, पर उन्होंने शीघ्र उनके निर्देशानुसार मायावती (अलमोड़ा) में अद्वैत आश्रम का कार्य देखना प्रारम्भ कर दिया। उनके साथ सच्चिदानन्द और विमलानन्द भी थे। मायावती में स्वामीजी के भक्त कैप्टिन सेवियर और मिसेज सेवियर के प्रचुर अर्थदान एवं सहयोग से अद्वैत आश्रम की स्थापना हुई थी। अब वहाँ से श्रीरामकृष्ण-भावधारा से अनुप्राणित 'प्रबुद्ध भारत' अंग्रेजी पत्रिका का प्रकाशन भी आरम्भ हो गया।

सन् १९०० के दिसम्बर मास में स्वामी विवेकानन्द भारत लौटे। इसी बीच मायावती में कैप्टिन सेवियर का देहावसान हो चुका था। मिसेज सेवियर को स्वामीजी 'मदर' कहा करते थे। उन्हें सान्त्वना देने के विचार से उन्होंने मायावती जाने का निश्चय किया। विरजानन्द स्वामीजी के आगमन की सूचना पाकर अतिशय प्रसन्न हुए। वे लगातार दो दिनों तक चलकर मायावती से ६५ मील दूर काठगोदाम पहुँचे, जहाँ स्वामीजी रेल से उतरनेवाले थे। विरजानन्द ने उनके लिए डाँडी-घोड़े आदि का प्रबन्ध

किया। स्वामीजी का शरीर अशक्त हो चला था। श्रमसाध्य यात्रा करने की स्थिति में वे नहीं थे। बीच बीच में डाँडी से उतरकर वे विरजानन्द के कन्धों का सहारा लेकर कुछ दूर पैदल चला करते। इस प्रकार अनेक कष्ट झेलते हुए वे पाँच दिनों में मायावती पहुँच सके थे।

यहाँ स्वामीजी ने दो सप्ताह विश्राम किया। विरजानन्द के लिए यह स्वर्गिक काल था। इसी बीच एक दिन उन्होंने स्वामीजी से कहा कि वे निर्जन में बैठकर तपस्या में डूब जाना चाहते हैं। स्वामीजी ने उन्हें समझाया, "कठोर तपस्या करके शरीर को नष्ट मत करना। देख न, कठोरता से मेरा शरीर कितना टूट गया है! उससे भला क्या लाभ?" स्वामीजी अद्वैत आश्रम को अद्वैत-साधना के उपयुक्त बनाना चाहते थे, ताकि साधक वहाँ अद्वैत-वेदान्त की साधना कर सकें। विरजानन्द ने उनके विचारों को मूर्त रूप दिया था।

सन् १९०१ में विरजानन्द ने बद्री-केदार की यात्रा की। नगाधिराज हिमालय उनके लिए आध्यात्मिकता का साकार प्रतीक था। वहाँ से लौटकर उन्होंने 'प्रबुद्ध भारत' के प्रचारार्थ लम्बी यात्राएँ कीं। उत्तर भारत, पंजाब, गुजरात और राजस्थान के अनेक स्थानों पर वे गये। जब वे अहमदाबाद में थे, उन्हें यह दारुण समाचार मिला कि स्वामी विवेकानन्दजी महासमाधि में लीन हो गये हैं। इस वज्रपात से विरजानन्द टूट-से गये। स्वामीजी

की बड़ी इच्छा थी कि विरजानन्द उनके पास कुछ दिन रहें। इसीलिए उन्होंने मदर सेवियर और स्वरूपानन्द को पत्र लिखा था कि यदि 'प्रबुद्ध भारत' के कार्य में क्षति न हो तो वे विरजानन्द को कुछ दिनों के लिए कलकत्ता भेज दें। स्वरूपानन्द ने विनम्रतापूर्वक जताया था कि विरजानन्द की अनुपस्थिति से 'प्रबुद्ध भारत' के कार्य में क्षति होगी। फिर स्वामीजी ने जोर नहीं दिया। तब कौन जानता था कि स्वामीजी इतने शीघ्र महासमाधि ग्रहण कर लेंगे ?

विरजानन्द का शोक यह जानकर अपरिमित हो गया कि गुरुदेव के चाहने पर भी वे अन्तिम काल में उनके समीप नहीं रह पाये। उनका मन उचाट हो गया और वे अधिकाधिक अन्तर्लीन हो गये। वे प्रायः १५-१६ घंटे तपस्या में बिताने लगे। अत्यधिक तपस्या से उनका शरीर टूट गया और मानसिक दौर्बल्य के चिह्न भी दीखने लगे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी यह जानकर बड़े चिन्तित हुए और उन्होंने विरजानन्द को बुलवा लिया। जब विरजानन्द श्रीमाँ के दर्शन हेतु जयरामवाटी पहुँचे, तो जननी भी अपनी सन्तान के भग्नस्वास्थ्य को देखकर बहुत दुखी हुईं। अन्तर्यामिनी ने उनकी अस्वस्थता का कारण समझ लिया, पूछा--"बेटा! तुम ध्यान कहाँ जमाते हो, हृदय में या सहस्रार में?" विरजानन्द ने उत्तर दिया --"सहस्रार में। वहाँ ध्यान करना अच्छा लगता है, बहुत आनन्द आता है।" तत्क्षण श्रीमाँ ने कहा--"यह क्या, बेटा!

वह तो अन्तिम अवस्था की, परमहंस-अवस्था की बात है। क्या एकबारगी मन को इतनी ऊँची अवस्था में रखा जा सकता है? पहले मन को सहस्रार में पहुँचाकर हृदय में ले आना चाहिए और यहीं पर इष्ट का ध्यान करना चाहिए।" श्रीमाँ ने विरजानन्द की व्याधि का कारण जानकर उसका अचूक निदान बता दिया। इसके उपरान्त वे बड़ी शीघ्रता से स्वस्थ होने लगे। अनेक दिन स्नेहमयी जननी की कृपावारिधि में अवगाहन कर विरजानन्द मठ लौट आये। यहाँ वे स्वामी ब्रह्मानन्दजी की सेवा में नियुक्त हुए। सन् १९०५ में जब अमेरिका में स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी वेदान्त-प्रचार कर रहे थे, तब उनकी सहायता के लिए विरजानन्द को जाने के लिए कहा गया। पर वे किसी प्रकार सहमत नहीं हुए। इस बीच एक बार वे पुनः जयरामवाटी गये और अपने हृदय की वेदना को मातृ-चरणों में उड़ेलते हुए उन्होंने कहा, "माँ! साधन-भजन तो कुछ भी नहीं हुआ, कुछ भी नहीं मिला। ठाकुर के दर्शन भी नहीं हुए! क्या होगा?" श्रीमाँ उन्हें आश्वस्त करते हुए अत्यन्त तात्पर्यपूर्ण वाणी में बोलीं, "बेटा! और कितना साधन-भजन करोगे? ठाकुर के दर्शन तो तुमने पा ही लिये!" वस्तुतः श्रीमाँ और ठाकुर अभिन्न हैं। श्रीमाँ की उक्ति में विरजानन्द को इसी अभिन्नता की प्रतीति हुई। सन्तानवत्सला श्रीमाँ की कृपा-माधुरी का रसास्वादन कर विरजानन्द कृतकृत्य हो उठे। उन्होंने पुनः द्विगुणित उत्साह से कर्मक्षेत्र में पदार्पण किया।

कुछ समय तुरीयानन्दजी के साथ कनखल में तपस्या में बिताकर विरजानन्द मायावती चले आये। सन् १९०६ से सन् १९१३ तक वे अद्वैत आश्रम के अध्यक्ष रहे तथा इसी काल में उन्होंने पाँच खंडों में 'कम्प्लीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द' और चार खंडों में 'लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द बाइ हिज ईस्टर्न एंड वेस्टर्न डिसाइपल्स' का सम्पादन और प्रकाशन किया। ये ग्रन्थ विश्व के धर्म-साहित्य में अद्वितीय हैं। मदर सेवियर के सहयोग से उन्होंने श्यामलाताल में विवेकानन्द आश्रम की स्थापना भी की थी। विरजान·द ने यहाँ सन् १९१४ से लगातार बारह वर्ष व्यतीत किये थे। अनेकानेक आघात आते रहे। सन् १९२० में श्रीमाँ ने लीला-संवरण कर लिया। इसके पूर्व उनके गुरुभाई स्वामी प्रकाशानन्द ने भी देहत्याग कर दिया। इन समस्त आघातों को झेलते हुए विरजानन्द की जीवन-धारा तपस्या और कर्म के दुकूलों में प्रवाहित होती रही।

स्वामी विरजानन्द सन् १९०६ ई० में रामकृष्ण मठ और मिशन के ट्रस्टी मनोनीत हुए थे। सन् १९२६ से उनका कार्यभार अतिशय बढ़ गया। सन् १९२६ में रामकृष्ण मठ और मिशन का एक महासम्मेलन आयोजित हुआ। विरजानन्द उस सम्मेलन के सचिव थे। सन् १९३४ में उन्हें मठ और मिशन का महासचिव बनाया गया और सन् १९३८ में वे विश्वव्यापी रामकृष्ण मठ और मिशन के अध्यक्ष मनोनीत हुए। जीवन के शेष बारह वर्षों तक वे अध्यक्ष रहे। इस अवधि में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भाव-धारा का बहुमुखी प्रसार हुआ। उनके अनाडम्बर जीवन,

गम्भीरता, मधुरता और तेजस्विता से पूर्ण व्यक्तित्व ने लक्ष-लक्ष जनों को प्रभावित किया। धर्मप्राण जनता को श्रीरामकृष्ण देव का अमृत सन्देश सुनाने के लिए उन्होंने समूचे भारत का परिभ्रमण किया और धर्मगुरु के रूप में सहस्रों लोगों को मंत्र-दीक्षा प्रदान कर कृतार्थ किया।

पर अब कठोर श्रम से उनका शरीर टूटता जा रहा था। हृदय और यकृत के विकार उन्हें पीड़ित करने लगे थे, पर वे अपनी अन्तिम साँस तक कार्यरत रहे। भक्तों और साधकों को प्रबोधन एवं सान्त्वना देने के लिए उनका द्वार सदैव खुला रहता। सन् १९५१ की ३० मई को ब्राह्ममुहूर्त में वे श्रीमाँ और गुरुदेव से मिलने के लिए अत्यन्त व्यग्र हो उठे और उनकी दृष्टि सहस्रार में केन्द्रित हो गयी। वे महासमाधि में लीन हो गये।

विरजानन्दजी का जीवन युगाचार्य विवेकानन्द की वाणी का जीवन्त प्रतिफलन था। उन्होंने स्वामीजी की इच्छानुसार संन्यासिनियों एवं ब्रह्मचारिणियों के लिए एक पृथक् मठ स्थापित कराने की महती प्रचेष्टा की थी। सन् १९५४ में दक्षिणेश्वर में स्थापित 'श्री सारदा मठ' उन्हीं के प्रयासों का साकार रूप है। अध्यात्म-पिपासुओं एवं जिज्ञासुओं को दिये गये उनके उपदेश आध्यात्मिक साधना के पथ-प्रदर्शक हैं, जो 'परमार्थ प्रसंग' नामक ग्रन्थ में लिपिबद्ध हैं। उनका जीवन श्रीमाँ, स्वामी विवेकानन्द तथा श्रीरामकृष्ण देव के अन्य शिष्यों के घनिष्ठ सम्पर्क से इस प्रकार गठित हुआ था कि वे श्रीरामकृष्ण देव के शिष्यों में से ही एक प्रतीत होते थे।

♣

भगतन के भगवान्

पं० रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

हनुमानजी हैं साक्षात् शंकर। ज्ञान के परमाचार्य भगवान् शंकर बन्दर बनकर हनुमानजी के रूप में आये। आप जानते हैं कि शिवजी बन्दर बनकर क्यों आये। गोस्वामीजी ने संकेत किया है कि हनुमानजी हैं पवन-सुत और पवन का स्वभाव यह है कि वह जिधर से आता है, उधर का गुण आप तक पहुँचा देता है। यदि पास में कोई सुन्दर वाटिका लगी हो और उसमें बड़े सुगन्धित पुष्प खिले हों, तो उधर से आनेवाली हवा अपनी सुगन्ध लेकर नहीं आयेगी, बल्कि फूलों की सुगन्ध ले आयेगी। हनुमानजी पवन-पुत्र हैं, अतः पवन का जो गुण है वही हनुमानजी का भी गुण है और उनका यह गुण भगवान् राम के साथ उनके सम्बन्ध में अनोखे रूप से प्रकट होता है।

सुग्रीव ने दूर से प्रभु को आते हुए देखा। सुग्रीव का अन्तःकरण तो विषयपरायण था। अतः भगवान् को आते देख वे भयभीत हो जाते हैं। वहाँ पर गोस्वामीजी का संकेत यह है कि सुग्रीव के चरित्र में इतने दोष होते हुए भी उन्होंने भगवान् को पा लिया। संसार में जो विषयी पुरुष होते हैं, वे भगवान् को नहीं पा सकते। तो फिर सुग्रीव ने कैसे पा लिया? बात यह है कि

संसार के विषयी पुरुष विषयी लोगों से ही मित्रता करते हैं और दोनों मिलकर एक दूसरे को नरक में ढकेलते हैं, पर सुग्रीव विषयी होकर भी मित्रता करते हैं सन्त हनुमानजी से। इसका परिणाम क्या हुआ ? अगर सुग्रीव को अपनी आँखों पर भरोसा होता, तब तो भगवान् राम को देखते ही वे भाग खड़े होते--यह सोच-कर कि ये तो वालि के भेजे हुए हैं। पर हनुमानजी का संग करने के कारण सुग्रीव को अपनी आँख का भरोसा कम है। वे हनुमानजी की आँखों पर भरोसा करते हैं। उनसे कहते हैं--जरा ब्राह्मण का वेश बनाकर जाइए और पता तो लगाइए कि ये कौन हैं। हनुमानजी ब्राह्मण का नकली वेश बनाकर भगवान् राम के पास जाते हैं। और आज भगवान् राम को वह पुरानी बात याद आ जाती है।

विभीषण भगवान् राम की शरण में आये हुए हैं। भगवान् सुग्रीव से पूछते हैं कि इनका क्या करना है ? सुग्रीव कहते हैं--भगवन् ! मुझे तो इसमें तीन दोष दिखायी दे रहे हैं। कौन कौनसे ? पहला तो यह है कि--

जानि न जाइ निसाचर माया

यह निशाचर है, निशाचरों की माया जानी नहीं जाती। और दूसरे --

कामरूप केहि कारन आया

यह नकली भेष में आया है, पता नहीं किसलिए आया है। फिर तीसरे --

भेद हमार लेन सठ आवा

यह शठ शायद हमारा भेद लेने आया है, इसलिए इसे बाँध लीजिए। 'गीतावली रामायण' में गोस्वामीजी लिखते हैं कि सुग्रीव का प्रस्ताव सुन प्रभु हनुमानजी की ओर देखकर जोर से हँसते हैं --

हिय बिहँसि कहत हनुमान सों।

सुग्रीव समझ नहीं पाते कि प्रभु क्यों हँस रहे हैं। प्रभु हँसकर हनुमानजी को मानो याद दिला देते हैं कि हनुमान ! तुम भी एक बार मेरे पास नकली वेश में आये थे और भेद लेने ही आये थे। तुम जब इतने बड़े सन्त निकले, तो लगता है कि यह भी निकलेगा, क्योंकि यह भी नकली वेश में है और भेद लेने आया हुआ है !

हनुमानजी जब ब्राह्मण का नकली वेश बनाकर प्रभु के समक्ष गये, तो प्रभु के तेजस्वी रूप को देखते ही उनका सिर भगवान् के चरणों में झुक गया --

माथ नाइ पूछत अस भयऊ।

प्रभु के ओठों पर मन्द मन्द हँसी खेल गयी। उन्होंने प्रणाम का उत्तर नहीं दिया। उनकी हँसी में व्यंग्य यह था कि हनुमान ! तुमने अभिनय करने की चेष्टा तो की, पर नाटक ठीक बना नहीं। अरे, जब तुम ब्राह्मण बनकर आये, तो मुझ क्षत्रिय के प्रणाम की प्रतीक्षा करते ! पर हनुमानजी भी पीछे हटनेवाले नहीं थे। प्रणाम करके उन्होंने पूछा --

को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा।

छत्री रूप फिरहु बन बीरा ॥

हनुमानजी का संकेत यह है कि महाराज! मैं अगर ब्राह्मणरूप-धारी हूँ और ब्राह्मण नहीं हूँ, तो आप भी क्षत्रियरूप-धारी ही हैं, क्षत्रिय नहीं हैं। यदि आप केवल क्षत्रिय होते, तो क्या यह सिर झुक सकता था? सिर जब झुकेगा तो ईश्वर के सामने ही झुकेगा; मेरा सिर झुककर बता रहा है कि मेरे सामने कौन खड़े हुए हैं। भक्त और भगवान् का मधुर द्वन्द्व प्रारम्भ होता है। प्रभु कौतुक करके उत्तर में कहते हैं—भाई! हमारा परिचय तो बड़ा सरल है—

कोसलेस दसरथ के जाए।

ईश्वर के जो लक्षण बताये गये हैं, उनमें एक तो यह है कि वे अजन्मा हैं। दूसरा यह कि वे स्वतंत्र हैं; तीसरा, वे सर्वशक्तिमान हैं और चौथा, वे सर्वज्ञ हैं। प्रभु का कौतुक यह है कि अपने परिचय में जो कुछ कहते हैं; वह इन सब लक्षणों को काट देता है। वे कहते हैं—हम तो अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र हैं। अजन्मा कैसे हुए? फिर—

हम पितु बचन मानि बन आए।

हम स्वतंत्र कहाँ? हम तो पिता के वचन से बँधे हुए हैं। हमारी सर्वशक्तिमत्ता ऐसी है कि—

इहाँ हरी निसिचर बैदेही।

मेरी पत्नी को राक्षस ने चुरा लिया है! और मैं सर्वज्ञ इतना बड़ा हूँ कि—

बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही ।

हम वन में चारों ओर अपनी पत्नी को ढूँढ़ते फिर रहे हैं ! तो —

आपन चरित कहा हम गाई ।
कहहु बिप्र निज कथा बुझाई ।।

सुनते ही हनुमानजी ने प्रभु के चरणों को पकड़ लिया——

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना ।

प्रभु हँसते हैं कि क्या पहचान लिया ? ईश्वर का एक लक्षण तक तो न मिला——न मैं अजन्मा, न मैं स्वतंत्र, न मैं सर्वशक्तिमान और न मैं सर्वज्ञ । फिर कैसे पहचाना ?

वेदान्त का उपदेश है कि ईश्वर के जितने लक्षण हैं, वे वास्तविक नहीं हैं । ये सारे लक्षण व्यक्ति के द्वारा बनाये गये हैं, और उसने ईश्वर को देखकर नहीं बल्कि अपने को देखकर ये लक्षण बनाये हैं । जैसे एक दरिद्र स्त्री कल्पना करने लगी कि रानी कैसी होती होगी । उसने सुना कि रानी के पास बड़ा सुख है, बहुतसा धन है । उसने सोचा कि तब तो रानी दिन-रात गुड़ ही खाती होगी । जैसे इस बेचारी गरीब स्त्री के लिए गुड़ दुर्लभ होने के कारण उसकी कल्पना की रानी चौबीसों घंटे गुड़ ही खाती रहती है, वैसे ही जीव ने अपने आप में जो जो कमी देखी, उस-उसका ईश्वर पर आरोपण करके उस सबको ईश्वर का गुण मान लिया । पर वस्तुत: ईश्वर तो समस्त लक्षणों से परे हैं । कोई लक्षण उनको

अपनी सीमा में नहीं बाँध सकता। यही ब्रह्म की विलक्षणता है। तो, हनुमानजी का संकेत यह है कि प्रभो! आपने सारे लक्षण काट दिये; इससे तो यही सिद्ध होता है कि जो लक्षण से परे है, आप वही हो सकते हैं।

हनुमानजी एक कदम आगे बढ़ जाते हैं, कहते हैं——महाराज ! आप यही तो कहते हैं न कि आपमें ईश्वरत्व का कोई लक्षण नहीं है ? ठीक है, पर मैं मान लेता हूँ कि आप ईश्वर हैं। बस, आप अपने नियम का पालन कीजिए। आप तो कहते हैं न कि ——

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्

——जो जिस भाव से आपको चाहता है, आप उसको उसी प्रकार से प्राप्त होते हैं ? तो, जैसे आपमें ईश्वर का कोई लक्षण नहीं मिला, फिर भी मैंने आपको ईश्वर मान लिया, वैसे ही यदि मुझमें भी दास या भक्त का कोई लक्षण न मिले, तो आप मुझे दास या भक्त मान ही लीजिए; लक्षण न मिलाइए। न हम आपका लक्षण मिलायें, और न आप हमारा लक्षण मिलायें, तो ही नाता सुन्दर रहेगा।

हनुमानजी ने एक वाक्य कहा——

एकु मैं मन्द मोहबस

और प्रभु हँस पड़े। हनुमानजी ने सोचा कि निन्दा तो मैंने अपनी की और प्रभु हँसे क्यों ? प्रभु का संकेत यह था कि हनुमान ! तुम तो अपनी प्रशंसा कर रहे हो ! तुम तो हो पवन-नन्दन, और पवन-नन्दन के लिए मन्द ही

होना अच्छा है। वायु का मन्द होना ही अच्छा है, उसका तीव्र होना अच्छा नहीं। इसलिए मन्दता तो गुण ही है।

फिर, मन्दता का अभिप्राय है निरहंकारिता। हनुमानजी के चरित्र में यह निरहंकारिता सर्वत्र दिखायी देती है। जैसे वायु जिस वस्तु के निकट से होकर जाये, उसी के गुण को सबके पास पहुँचा देती है, वैसे ही हनुमानजी जहाँ पर जाते हैं, वहाँ भगवान् का ही नाम, भगवान् का ही रूप लेकर जाते हैं, अपना नाम और अपना रूप लेकर नहीं। तो, शिवजी बन्दर क्यों बने? इसलिए कि यदि हम सुन्दर रहेंगे तो लोग हमारा ही ध्यान करने लगेंगे। अतएव बन्दर रहें तो ही अच्छा। तब मुझ बन्दर का क्या ध्यान करोगे? सुन्दर तो हमारे प्रभु हैं। अगर ध्यान करना है, तो उनका ध्यान करो। रूप में आसक्ति करनी है, तो भगवान् राम के रूप में करो।

हनुमानजी लंका में विभीषण के पास गये। विभीषण को लगा कि ये साक्षात् भगवान् हैं या भगवान् के दास? पूछ बैठे। हनुमानजी ने राम की कथा सुनायी, अपनी नहीं--

तब हनुमन्त कही सब राम कथा

हनुमानजी का संकेत यह था कि बन्दर की क्या कथा सुनोगे? सुनना ही है तो मेरे प्रभु की कथा सुनो। पर तब भी विभीषणजी को सन्तोष नहीं हो रहा है। कहते हैं---अपना नाम तो बता दीजिए।

तब हनुमन्त कही सब राम कथा निज नाम।

कहा---मेरा नाम है हनुमान। पर अब मेरे नाम का फल भी सुन लो। सबेरे सबेरे मेरा नाम कोई ले ले, तो दिन भर उसे भोजन न मिले---

प्रात लेइ जो नाम हमारा।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥

एक सज्जन ने मुझसे पूछा---'क्या सचमुच हनुमानजी का नाम लेने से भोजन नहीं मिलता है?' मैंने कहा-'एक दिन लेकर देख लीजिए न सबेरे सबेरे। अगर नहीं मिलेगा तो एक ही दिन का कष्ट होगा।' कई लोग बड़े विचित्र होते हैं। अरे भई, हनुमानजी का नाम लेने से भोजन न मिलने का तात्पर्य नहीं। हनुमानजी का तात्पर्य यह था कि मेरा नाम कोई न ले, ले तो हमारे प्रभु का नाम। इसलिए उन्होंने डरा दिया कि मेरा नाम इतना अमंगलमय है कि वह ले लेने से भोजन नहीं मिलता। नाम लेने योग्य है तो प्रभु का, रूप देखने योग्य है तो प्रभु का। कथा सुनने योग्य है तो प्रभु की।

वेदान्ती कहता है कि नाम और रूप से ऊपर उठ जाओ। पर भक्त कहता है कि भगवान् के नाम और रूप का स्मरण करनेवाला अपने आप ही नाम और रूप से सर्वथा अलग हो जाता है। स्वयं हनुमानजी कितने नामरहित हैं! यह विचित्र बात है कि रावण को हनुमानजी के नाम का पता बहुत दिनों तक नहीं था। हनुमानजी उसकी सभा में आये, उससे वार्तालाप किया और लंका जलाकर चले गये, पर रावण को पता नहीं चला

कि इस बन्दर का क्या नाम है। जब हनुमानजी रावण की सभा में पकड़कर लाये गये, तो--

कह लंकेस कवन तैं कीसा।
केहि कें बल घालेहि बन खीसा ।।

रावण ने पूछा कि तुम कौन हो और तुम्हारे पीछे किसका बल है? उत्तर में हनुमानजी ने यह तो बताया कि मेरे पीछे किसका बल है, पर यह न बताया कि मेरा नाम क्या है। हनुमानजी लंका जलाकर चले गये, पर रावण को उनके नाम का पता न चला। एकमात्र विभीषण ही उनका नाम जानते थे, पर दोनों का मिलन एकान्त में हुआ था, इसलिए लंका का कोई दूसरा व्यक्ति हनुमानजी का नाम नहीं जान पाया। रावण ने अपने दो गुप्तचर शुक और सारण को भेजा कि वे राम की सेना के प्रधान लोगों का नाम पता लगाकर आयें। गुप्तचर लौटकर रावण को शत्रु की सेना के प्रमुख व्यक्तियों का नाम बतलाते हुए कहते हैं--

द्विबिद मयन्द नील नल अंगद गद बिकटासि।
दधिमुख केहरि निसठ सठ जामवन्त बलरासि ।।

रावण ने इतने नाम तो सुने, पर उसे बड़ी जिज्ञासा होती है कि जो बन्दर नगर जला गया था, वह इनमें से कौन है? शुक और सारण कहते हैं कि इन नामों में उस बन्दर का नाम नहीं है।

--क्यों?

—इसलिए कि उसका नाम याद करने के लिए राम

की सेना के सारे वानरों का ही नाम याद करना पड़ेगा।

——भला ऐसा क्यों ?

——इसलिए कि

जेहिं पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा।
सकल कपिन्ह महँ तेहि बलु थोरा॥

जिसने आपका नगर जलाया, आपके पुत्र को मार डाला, वह तो सबसे कमजोर बन्दर है। उसका नाम भला कौन जाने ? और रावण को बड़ा आश्चर्य होता है। उसकी समस्या का समाधान अंगदजी करते हैं। जब अंगदजी रावण-सभा में आये तो रावण कहता है कि तुम्हारी सेना में कोई वीर है ही नहीं। जब अंगद अपने पक्ष के वीरों का नाम गिनाते हैं, तो रावण एक-एक करके उन सबका खण्डन करता है। कहता है——

तव प्रभु नारि बिरहँ बलहीना।
अनुज तासु दुख दुखी मलीना॥
तुम्ह सुग्रीव कूलद्रुम दोऊ।
अनुज हमार भीरु अति सोऊ॥
जामवन्त मंत्री अति बूढ़ा।
सो कि होइ अब समरारूढ़ा॥
सिल्पि कर्म जानहिं नल नीला।

रावण ने सब नामों को काट दिया। अंगद पूछते हैं —— तो क्या हमारी सेना में तुम्हें कोई वीर ही नहीं दिखायी देता ?

— हाँ, है; एक वीर है —

है कपि एक महा बलसीला ।।

—— उसका क्या नाम है ?

—— नाम तो नहीं जानता, पर काम जानता हूँ ——

आवा प्रथम नगरु जेहिं जारा ।

अभिप्राय यह है कि भक्त के लिए भगवान् का नाम ही नाम है, भगवान् का रूप ही रूप है । उसे अपने नाम या अपने रूप के प्रति आसक्ति नहीं रह जाती । संसारी व्यक्ति नाम के लिए झगड़ता है, पर दिखाता ऐसा है कि किसी आदर्श के लिए झगड़ रहा है । वह भगवान् का भक्त नहीं हो सकता । परशुरामजी की दशा भी ऐसी ही थी । ऊपर से तो उनको लग रहा था कि शिवजी के धनुष के लिए लड़ रहे हैं, पर वास्तव में सारी लड़ाई तो नाम की ही थी । वे भगवान् राम से सरोष कहते हैं ——

करु परितोषु मोर संग्रामा ।
नाहिं त छाड़ कहाउब रामा ।।

प्रभु बोले——महाराज ! यदि नाम की ही लड़ाई है, तो फिर कोई बात ही नहीं । ——

राम मात्र लघु नाम हमारा ।
परसु सहित बड़ नाम तोहारा ।।

मेरा तो मात्र दो अक्षर का नाम है, पर आपका नाम तो इतना बड़ा है । जब सारी लड़ाई नाम की है, तो आप हर तरह से बड़े हैं । यहाँ पर व्यंग्य यह है कि अगर नाम में ही बड़प्पन हो, तो नाम के अक्षरों की संख्या बढ़ाकर

अपनी महानता मनचाही बढ़ा लो। जो मनुष्य अपने नाम के प्रति आसक्त है, वह उसकी सुरक्षा के लिए बड़ा चिन्तित रहता है और जो भगवान् के नाम में आसक्त है, वह अपने नाम से ऊपर उठ जाता है। भगवान् राम ने अपने नाम की मुद्रित मुद्रिका हनुमानजी को दी। इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् के नाम को धारण करने की सामर्थ्य उसी में है, जो अपने नाम से ऊपर उठ गया हो।

भगवान् राम जनकपुर में पुष्पवाटिका में आते हैं। श्रीजानकीजी भी अपनी सखियों के साथ वहाँ आती हैं, पर पहले सरोवर में स्नान करती हैं। स्नान करने के बाद पार्वतीजी का पूजन करती हैं। पूजन के पश्चात् एक सखी मार्ग दिखलाती है और श्रीजानकीजी भगवान् राम को ढूँढ़ने निकल पड़ती हैं। किन्तु श्रीजानकीजी तो भगवान् राम से अभिन्न हैं—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बन्दउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

और जहाँ ऐसी अभिन्नता है, वहाँ खोज का क्या तात्पर्य? यह तो हम संसारी जीवों को भगवान् की प्राप्ति का रास्ता दिखाने के लिए ही जानकीजी भगवान् राम को खोजने की लीला करती हैं। अभिप्राय यह है कि भगवान् को पाना हो, तो पहले वाटिका में जाइए। वाटिका कौनसी है?—

सन्त सभा चहुँ दिसि अवँराई।

अर्थात्, सत्संग की वाटिका में जाइए और वहाँ सरोवर

में स्नान कीजिए। सरोवर का जल कौनसा है ?--

बाँधे घाट मनोहर चारी।
सन्त हृदय जस निर्मल वारी ॥

सन्त का हृदय ही वह निर्मल जल है, जिसमें अवगाहन करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि पहले सत्संग में जाइए, फिर सन्त के हृदय में प्रवेश कीजिए और सन्त के हृदय में प्रवेश करने के बाद जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाय, तो पार्वतीजी का पूजन कीजिए।

पूजा दो प्रकार से होती है। यदि कोई अतिथि आपके घर आता है, तो आप उसे माला पहनाते हैं, उसका सत्कार करते हैं, उसे भोजन कराते हैं। इसके साथ ही आप सर्वदा इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि आपसे उसके मन के अनुकूल ही कार्य हो। इसी प्रकार पार्वतीजी की एक पूजा तो वह है, जब हम उनकी मूर्ति को चन्दन-पुष्प-माल्य आदि अर्पित करते हैं, और दूसरी पूजा वह है, जब हम पार्वतीजी की इच्छा के अनुकूल चलते हैं। हम चन्दन-पुष्प आदि से तो पार्वतीजी की पूजा करें, पर उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करें, तो इससे पूजन कैसे पूरा होगा ? अतएव हम दोनों प्रकार से पार्वतीजी का पूजन करें। पर पूजन करने के पहले यह तो जान लें कि पार्वतीजी कौन हैं। गोस्वामीजी रामचरितमानस के प्रारम्भ में ही लिखते हैं --

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥

——पार्वतीजी मूर्तिमती श्रद्धा हैं। और याद रखिए, जब तक पार्वतीजी की कृपा से मनुष्य के अन्तःकरण में श्रद्धा का उदय नहीं होगा, तब तक कोई भी व्यक्ति ईश्वर की ओर नहीं बढ़ सकता और उन्हें नहीं पा सकता। पर पूजा दिखाऊ न हो, इसका भी ध्यान रखना चाहिए।

देखिए न, रावण शंकरजी की पूजा तो करता है, पर उसकी पूजा दिखाऊ है। शंकरजी हैं साक्षात् विश्वास की मूर्ति। रावण ऊपर से तो उनका पूजन करता है, पर भीतर से उन पर रंचमात्र भी विश्वास नहीं करता। शंकरजी कैलास पर रहते हैं और वह कैलास पर्वत को जाकर उठा लेता है। इसका अभिप्राय क्या?——यही कि वह शंकरजी को, विश्वास को डिगाता है और विश्वास को डिगाना अपनी ही हानि करना है। दूसरी ओर, लक्ष्मणजी को देखिए। वे प्रकट में शंकरजी के भक्त नहीं दिखते, बल्कि उनके वचनों से कभी कभी ऐसा लगता है कि वे शंकरजी के विरोधी हैं। जैसे, भरतजी के प्रसग में कह दिया——

जौं सहाय कर संकरु आई।
तौ मारउँ रन राम दोहाई॥

दूसरी बार मेघनाद के प्रसंग में वे कह उठते हैं——

जौं सत संकर करहिं सहाई।
तदपि हतउँ रघुबीर दोहाई॥

लक्ष्मणजी की इन उक्तियों से लगता है कि वे शंकरजी के प्रति उतने आस्थावान् नहीं हैं। पर ऊपर से जैसा

भी दिखे, लक्ष्मणजी वस्तुतः शंकरजी के भक्त हैं। शंकरजी तो मूर्तिमान विश्वास हैं। अतएव यदि जीवन में सच्चे विश्वास का उदय हो गया, तब तो आप शंकर-भक्त हैं और यदि विश्वास का उदय नहीं हुआ, तो आप शंकर-भक्त नहीं हैं।

शंकरजी ने अपने श्वशुर दक्ष प्रजापति का सिर काट लिया। 'दक्ष' का अर्थ होता है 'चतुर'। यानी, शंकरजी हैं विश्वास और ससुर महोदय हैं चातुर्य। भई, विश्वास और चतुराई की लड़ाई तो पुरानी है। अब भी चलती है और पहले भी चलती रहती थी। चतुर लोग विश्वास को व्यर्थ की वस्तु समझते हैं। कई बार तो लोग कहते हैं कि यह सब अन्धविश्वास की बात है। मैं उनसे कहता हूँ कि रामायण में जिस विश्वास की बात कही गयी है, वह अन्धा नहीं है बल्कि तीन आँखवाला है। शंकरजी के तीन नेत्र जो हैं!

लोग बुद्धि की दुहाई देते हैं। बुद्धि है तो बड़ी सुन्दर वस्तु, पर उसकी भी एक सीमा है। संसार में ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जिन्हें आप बुद्धि के द्वारा नहीं जान सकते, फिर आप ऐसा क्यों कहते हैं कि बुद्धि के द्वारा आप ईश्वर को जानेंगे? जब भी ईश्वर ज्ञात होगा, तो बुद्धि के द्वारा तो नहीं ज्ञात होगा। मान लीजिए कि अँधेरे में कोई वस्तु खो गयी है। उसे आप दिये के प्रकाश में खोजेंगे। लेकिन प्रातःकाल जब सूर्य निकल आये, तो बुद्धि का तर्क लगाकर क्या यह कहेंगे कि जरा दिया तो ले आओ, देखें

सूर्य निकला है या नहीं ? जब जनकपुर से दूत धनुष-यज्ञ के पश्चात् महाराज दशरथ के पास गये और उन्हें सारे समाचार सुनाये, तो वे दूतों से पूछ बैठते हैं —

कहहु बिदेह कवन बिधि जाने ।

'भैया ! यह तो बताओ कि महाराज विदेह ने मेरे राजकुमारों को कैसे पहचाना ?' दूत हँसने लगे । बोले —

देखिअ रबि कि दीप कर लीन्हे ।

'महाराज ! क्या सूर्य को हाथ में दीपक लेकर देखा जाता है !' आपके पुत्र तो स्वयंप्रकाश हैं । और फिर आपके पुत्रों को तो विदेही ही जानेंगे, ये देहवाले भला उन्हें क्या जानेंगे ! यहाँ संकेत यह है कि उस इन्द्रियातीत परम तत्त्व को वही जान सकता है, जो विदेही है, देह-बोध से ऊपर उठा हुआ है ।

भगवान् शंकर जब दूल्हे के वेश में गिरिराज हिमाचल के द्वार पर जाते हैं, तो मैना सोने के थाल में दीपक सजाकर आरती उतारने के लिए आती हैं, पर जब शिवजी का वह विकट रुद्र वेश देखती हैं, तो आरती बुझा देती हैं, थाल पटक देती हैं और डर के मारे भागकर घर में घुस जाती हैं —

भागि भवन पैठीं अति त्रासा ।

शंकरजी हँसते हुए जनवासे में लौट आते हैं । देवतागण कहते हैं — 'महाराज ! ऐसा वेश बनाकर कहीं ससुराल में जाया जाता है ! कितना बड़ा अपमान हो गया और आप मुसकरा रहे हैं !' शंकरजी कहते हैं—'तुम लोग कुछ

भी कहो, पर मैं तो प्रसन्न हो गया; मैना ने जाने में चाहे अनजाने में मेरा वही स्वागत किया है, जो किया जाना चाहिए। मुझे देखकर मैना ने जो दीप बुझा दिया वह उचित ही है। जब सूर्य का उदय हो जाय, तो दीपक का क्या प्रयोजन !' अभिप्राय यह है कि विश्वासरूपी ईश्वर को बुद्धि-वृत्ति के प्रकाश में देखने की चेष्टा न कीजिए।

तो, श्रीजानकीजी श्रद्धास्वरूपिणी श्रीपार्वतीजी की आराधना कर एक सखी को आगे करके भगवान् को ढूँढ़ने चलती हैं, पर भगवान् नहीं मिले। वे एकदम से नहीं मिल जाते, पहले वे भक्त के हृदय में अपने लिए व्याकुलता उत्पन्न करते हैं --

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता।
कहँ गये नृप किसोर मनु चिन्ता ।।

भक्त के व्याकुल होने पर वे अपने को थोड़ा थोड़ा प्रकट करते हैं, जैसे श्रीरघुनाथजी लता की ओट से श्रीजानकीजी को दिखायी देते हैं --

लता ओट तब सखिन्ह लखाये।

लता की आड़ में ईश्वर थोड़ा थोड़ा झलक रहा है। और जब ईश्वर की झलक पा ली, तो उसे अपने नेत्रों में बन्द कर लिया और हृदय में देखने लगीं --

लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी ।।

अभिप्राय यह कि भक्त को लता का अन्तराल भी अत्यन्त बाधक मालूम पड़ता है, वह अपने और भगवान् के बीच

में किसी प्रकार का अन्तराल नहीं चाहता। इसीलिए श्रीजानकीजी ने अपने नेत्रों में श्रीराघवेन्द्र को भरकर पलकों के कपाट लगा लिये। भक्त नेत्रों को मूँदकर हृदय के भीतर ईश्वर के दर्शन करता है। वह वेदान्त के सर्वव्यापक ब्रह्म को भक्ति का ईश्वर बनाकर अन्तर्यामी बना लेता है। तो क्या भक्त आँखें मूँदकर ही ईश्वर को देख पाता है आँखें खोलकर नहीं? नहीं, ऐसी बात नहीं। जब वह आँखें खोलता है, तो ईश्वर को एक रूप दे देता है और उसी रूप को अपने सामने देखता है।

लताभवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ॥

श्रीकिशोरीजी को नेत्र मूँदे देख सखियाँ कहती हैं—अरे, जरा नेत्र खोलकर तो देख लो, पार्वतीजी का ध्यान बाद में कर लेना। जब वे नेत्र खोलती हैं, तो देखा कि साक्षात् प्रभु सामने खड़े हैं। वे सबसे पहले देखती हैं—

मोरपंख सिर सोहत नीके।
गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के॥

—भगवान् राम के माथे पर मोर का पंख लगा हुआ है। इसका अभिप्राय क्या है? भक्तों ने भगवान् को प्रकट किया, भक्तों ने भगवान् को रूप दिया, भक्तों ने भगवान् को नाम दिया, पर तिस पर भी भक्तों को सन्तोष नहीं हुआ। वे भगवान् से कहने लगे कि निष्पक्ष ब्रह्म से काम नहीं चलेगा, अब आप पक्षधर बनिए। अब आप सिर पर पंख लगाकर पक्षपाती बन जाइए। और

भक्तों की मनुहार पर भगवान् ने अपने सिर पर पंख बाँध लिया। और बाँधा भी तो मोरपंख। क्यों? इसलिए कि भक्तों ने कहा—प्रभो! जब आप हमारा अनुरोध स्वीकार कर पक्षधर बने हैं, तो कृपा करके हमारा ही पक्ष लीजिए, दूसरों का नहीं; इसलिए मोरपंख स्वीकार कीजिए —

सब है विपक्ष कोहू पक्ष न हमारो है
मोर पक्ष वारो तुम्ही मोर पक्ष वारो।

और भगवान् मोरपंख धारण कर लेते हैं, भक्तों के पक्षधर हो जाते हैं। पर ध्यान रखिए, भगवान् मोर-पंख तभी धारण करते हैं, जब मोर अपना पंख छोड़ता है। यदि मोर अपना पंख न छोड़े तो भगवान् उसे ग्रहण करें कैसे? पर ज्योंही उसने अपना पंख छोड़ा कि भगवान् के माथे पर पहुँच गया। जो व्यक्ति अपने को पकड़े हुए है, वह भगवान् के पास नहीं पहुँच सकता, भगवान् उसका पक्षधर नहीं बनते। लेकिन जो अपना पक्ष छोड़ देता है, भगवान् उसके पक्ष को अपने सिर पर धारण कर लेते हैं, उसे अपना लेते हैं और धन्य बना देते हैं। भक्तों ने जैसा चाहा, भगवान् को नचाया। उनको निर्गुण-निराकार से सगुण-साकार बनाया, अरूप से रूपधारी, अनाम से नामधारी और निष्पक्ष से सपक्ष। तभी तो गोस्वामीजी कहते हैं-- भई, भगवान् को जैसा चाहो बना लो, वे हमारे जो हैं --

हियँ निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम।।

गीता प्रवचन-१९

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।४०।।

(कुलक्षये) कुल के नाश से (सनातनाः कुलधर्माः) सनातन कुल-धर्म (प्रणश्यन्ति) नष्ट हो जाते हैं (धर्मे नष्टे) धर्म के नष्ट होने पर (उत) फिर (कृत्स्नं) समूचे (कुलम्) कुल को (अधर्मः) अधर्म (अभिभवति) दबा लेता है ।

"कुल का नाश होने से सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्म के नष्ट होने पर फिर समूचे कुल को अधर्म दबा लेता है ।"

अर्जुन कुलक्षय का पहला दोष यह बतलाता है कि उससे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं । यह स्वाभाविक भी है । यदि कुल के धर्म का पालन करनेवाले व्यक्ति ही नष्ट हो गये, तो धर्म भी कैसे बचा रहेगा? धर्म तो आचरणनिष्ठ होता है--आचारप्रभवो धर्मः । आचरण में उतारने से ही धर्म पुष्ट होता है । आज धर्म की गिरी दशा का कारण यही है कि लोग मुँह से तो धर्म की बड़ी बड़ी बातें करते हैं, पर जब व्यवहार में धर्म को उतारने का समय आता है, तो तोते के समान टें-टें कर जाते हैं ।

श्रीरामकृष्ण देव एक सुन्दर उदाहरण दिया करते थे । किसी तोते को आप वेद की ऋचाएँ रटा दें, तो वह सस्वर उन मंत्रों का पाठ कर आपको सुना देगा ।

यदि गीता के श्लोक या रामायण की चौपाइयाँ और दोहे रटा दें, तो वह उसी खूबी के साथ गीता के श्लोक बोल लेगा, रामायण की चौपाइयाँ और दोहे गाकर बता देगा। पर यदि बिल्ली उस पर झपटे, तब तो वह वेदों की ऋचाएँ भूल जायेगा, गीता के श्लोक विस्मृत कर देगा, रामायण की चौपाइयाँ और दोहे बिसरा देगा, तब तो वह केवल टें-टें करेगा। हमारे जीवन में भी जब धर्म के आचरण का समय आता है, तो इस तोते की तरह हम टें-टें करने लगते हैं। यही धर्म की गिरावट का कारण रहा है। इसीलिए हमने ऊपर कहा कि जोर-शोर से प्रवचन देने से धर्म बली नहीं बनता, न दिखावे के लिए कोई बड़ा कर्मानुष्ठान कर देने से ही धर्म पुष्ट होता है। धर्म को जीवन्त बनाने के लिए उसमें आचरण के प्राण फूँकने पड़ते हैं। अतः आचरण करनेवाले ऐसे लोग यदि नष्ट हो गये, तो प्राचीन काल से चले आये धर्म नष्ट हो जायेंगे, यही अर्जुन का तात्पर्य है।

कुलक्षय का दूसरा दोष धर्म-नाश से उत्पन्न होता है। अर्जुन कहता है कि धर्म के नष्ट होने पर समूचे कुल को अधर्म दबा लेता है। धर्म और अधर्म का संग्राम तो सतत छिड़ा हुआ है। इसी को पुराणों में देवासुर-संग्राम के नाम से पुकारा गया है। जब धर्म का वजन कम पड़ने लगता है, तो समाज पर अधर्म हावी हो जाता है। अधर्म की प्रवृत्ति मनुष्यों

में स्वाभाविक हुआ करती है। हमें बलपूर्वक अपने ऊपर धर्म के संस्कार डालने पड़ते हैं। अधर्म तो सदैव दबाने के लिए तैयार बैठा ही है, पर धर्म की सजगता के कारण ऐसा नहीं कर पाता। जैसे, सर्कस में हम बाघ का खेल देखते हैं। रिंग-मास्टर बिजली का चाबुक हाथ में ले बाघ से करतब कराता है। बाघ चाबुक के डर के मारे वह सब करता तो है, पर वह हरदम इसी ताक में रहता है कि कब रिंग-मास्टर को चट कर जाऊँ। ठीक इसी प्रकार अधर्म मानो ताक में बैठा रहता है और मौका पाते ही हावी हो जाता है।

अतएव शास्त्रों ने हमें सतत धर्म के आचरण की शिक्षा दी है। इससे अधर्म की प्रवृत्ति पर रोक लगती है। अधर्म की यह प्रवृत्ति तीन रूप लेकर सामने आती है—'कामचार' यानी यथेच्छ आचरण करना, 'कामभक्ष' यानी जो इच्छा हो सो खा लेना और 'कामवाद' यानी वाणी पर बिना लगाम लगाये जो मुँह में आये सो कह देना। इन प्रवृत्तियों को सिखाना नहीं पड़ता, बल्कि ये तो मनुष्य में नैसर्गिक होती हैं और उसके पतन का कारण बनती हैं। स्मृतिकार कहते हैं—

विहितस्याननुष्ठानान् निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥

—'विहित विषयों का अनुष्ठान न करना, निन्दित विषयों का सेवन करना और इन्द्रियों को वश में न रखना, ये मनुष्य के पतन के कारण होते हैं।'

ये अधर्म की श्रेणी में आते हैं। जब धर्म शिथिल हो जाता है, तो अधर्म के ये रूप समाज को दबोच लेते हैं। धर्म की शिक्षा हमें अपने पूर्वजों और गुरुजनों के आचरण को देखकर मिलती है। कुल का क्षय हो जाने पर धर्म का आचरण करनेवाले गुरुजनों का अभाव हो जायगा। इससे अधर्म बढ़ेगा और धीरे धीरे समूचे कुल को दबा लेगा।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥ ४१॥

(कृष्ण) हे कृष्ण (अधर्माभिभवात्) अधर्म से अभिभूत हो जाने पर (कुलस्त्रियः) कुल की स्त्रियाँ (प्रदुष्यन्ति) दूषित हो जाती हैं (वार्ष्णेय) हे वार्ष्णेय (दुष्टासु स्त्रीषु) दूषित स्त्रियों में (वर्णसंकरः) वर्णसंकरता (जायते) उत्पन्न होती है।

"हे कृष्ण! अधर्म से दब जाने पर कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के इस प्रकार दूषित हो जाने पर उनमें वर्णसंकरता उत्पन्न होती है।"

कुलक्षय का तीसरा दोष अधर्म के इस प्रकार बढ़ जाने से पैदा होता है। अर्जुन कहता है कि अधर्म की एवंविध वृद्धि से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और स्त्रियों के इस प्रकार दूषित हो जाने पर उनमें वर्णसंकरता उत्पन्न होती है। यह कुलक्षय का चौथा दोष है।

अशुभ प्रवृत्तियों को रोकने के सामान्यतः दो उपाय होते हैं--एक तो दण्ड का भय और दूसरे, पाप का भय। हममें से अधिकांश या तो नरक के डर से पाप से दूर रहते हैं, या फिर पुलिस के डर से। यदि पुलिस का डर

न होता, तो आज समाज में और भी अधिक अव्यवस्था फैल गयी होती। जब तक मनुष्य में पाप का डर बना रहता है, उसे नैतिक बनाये रखने के लिए पुलिस की आवश्यकता नहीं होती। पर जब उसमें से पाप का डर निकल जाता है, तो उसकी नैतिकता केवल दिखाऊ होती है; तब उसकी नैतिकता का आधार केवल पुलिस का डण्डा होता है। जब समाज को अधर्म घेर लेता है, तो सबसे पहले पाप का भय खत्म हो जाता है। तब स्त्री और पुरुष स्वैर आचरण करने लगते हैं। इससे नैतिकता की मर्यादा समाप्त हो जाती है और समाज में व्यभिचार फैल जाता है। स्त्रियों के इस प्रकार दूषित हो जाने से जो सन्तानें उत्पन्न होती हैं, वे वर्णसंकर होती हैं। यह वर्णसंकरता समाज के लिए घातक सिद्ध होती है। मनुस्मृति में कहा है––

यस्मिन्नेते हरिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥

––'जिस देश में वर्णों को दूषित करनेवाले ये वर्णसंकर अधिक बढ़ जाते हैं, वह सारा देश, देशवासियों सहित, शीघ्र नष्ट हो जाता है।'

यही कारण है कि हमने भारत में रक्त-शुद्धि पर बड़ा जोर दिया है। संसार के कुछ दूसरे देशों में भी कुछ समय पूर्व तक रक्त-शुद्धि पर बड़ा बल दिया जाता था। अमेरिका में काले और गोरे की लड़ाई प्रमुखतः इसी का परिणाम है। भारत में जब अंग्रेजों का शासन था, तो यहाँ

वे भारतीयों से अपने को पृथक् ही रखते थे। इसके मूल में अपनी नस्ल को सुरक्षित रखने की भावना थी। वर्ण-संकरता का दोष नस्ल को खत्म कर देता है। हम इस वर्ण-संकरता पर विशद और वैज्ञानिक विचार चौथे अध्याय के तेरहवें श्लोक की व्याख्या के सन्दर्भ में करेंगे।

यहाँ पर पूछा जा सकता है कि क्या नरक और पाप का डर दिखाकर मनुष्य को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देना उचित है? उत्तर में वक्तव्य यह है कि विचारों की भिन्नता के कारण मनुष्यों की अलग अलग श्रेणियाँ होती हैं। कुछ लोग मानसिक विकास की दृष्टि से बालक के समान होते हैं, तो कुछ लोग प्रौढ़। प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति के लिए उसके अनुरूप व्यवस्था करनी होती है। मोटे तौर पर हम मनुष्यों को तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं। एक तो वे हैं, जो इस संसार को छोड़कर और कुछ नहीं जानते। यह दृश्यमान जगत् ही उनके लिए सब कुछ है। ये लोग भौतिकतावादी और इन्द्रिय-परायण होते हैं। खाना, पीना और मौज उड़ाना ही उनका लक्ष्य होता है। भोग (enjoyment), उत्तेजना (excitement) और अवसाद (exhaustion) के चक्र में पड़कर ये लोग उचित और अनुचित का विवेक खो बैठते हैं तथा उच्छृंखल और पशुवत् हो जाते हैं। ऐसे लोगों में पाप-पुण्य का कोई बोध नहीं होता। अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए ये कुछ भी कर सकते हैं। ऐसे विवेकहीन मानव-पशुओं से समाज की रक्षा करने के लिए डण्डे का

उपयोग लाभप्रद सिद्ध होता है।

इससे कुछ ऊपर की श्रेणी वह है, जहाँ मनुष्य केवल देह के स्तर पर नहीं जीता, बल्कि एक वैचारिक आदर्श में आस्था रखता है। उसे यह विश्व आकस्मिकता या दुर्घटना से उत्पन्न एक लक्ष्यहीन भटकाव नहीं मालूम पड़ता, बल्कि वह इस संसार में एक अदृश्य नियामक शक्ति को अनुस्यूत देखता है, जिसे वह ईश्वर के नाम से पुकारता है। यह व्यक्ति विश्वास करता है कि अशुभ क्रियाओं का फल अशुभ होता है और शुभ क्रियाओं का फल शुभ। इसलिए वह स्वर्ग और नरक पर विश्वास करता है और मानता है कि पुण्य के फल से स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा पाप के फल से नरक की। स्वर्ग वह है जहाँ सुख की सूक्ष्म से सूक्ष्म कल्पना साकार होती हो और नरक वह है जहाँ दुःख की बीभत्स से बीभत्स कल्पना मूर्त रूप धारण करती हो। मनुष्यों की यह दूसरी श्रेणी पाप और नरक के डर से कुमार्ग पर कदम डालने में हिचकती है। इन लोगों के लिए ईश्वर एक न्यायी राजा के समान हैं, जो सत्कर्मों के लिए पुरस्कार और दुष्कर्मों के लिए दण्ड प्रदान करते हैं। मानव-समाज के बृहत्तर अंश के लिए पाप-पुण्य की यह कल्पना लाभदायक सिद्ध होती है।

इससे भी ऊपर की श्रेणी वह है, जहाँ मनुष्य पाप-पुण्य की भावना से प्रेरित होकर क्रियाएँ नहीं करता जो ईश्वर को एक न्यायी राजा के समान नहीं देखता, बल्कि उन्हें सर्वान्तर्यामी सत्य के रूप में स्वीकार करता है और ऐसा

मानता है कि यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड अटल और अपरिवर्तनशील नियमों द्वारा धारित है। ये नियम ही 'ऋत' और 'सत्य' के नाम से पुकारे गये हैं। इस तीसरी श्रेणी में अत्यन्त विरले लोग होते हैं। इनके जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति न होकर सत्य का शोधन होता है। ऐसे ही व्यक्ति सत्यद्रष्टा बनकर 'ऋषि' के नाम से पूजित होते हैं। सारी मानवजाति को 'ऋषि' की उच्चतम स्थिति तक पहुँचा देना ही विकास की प्रक्रिया का लक्ष्य है। पर इस गन्तव्य पर पहुँचने के लिए हमें प्रथम दो श्रेणियों में से गुजरना होता है। एक छोटासा बच्चा जब चलना शुरू करता है, तो तीन पैर की गाड़ी का सहारा लेता है। जब वह चलना सीख जाता है, तो उसे फिर किसी सहारे की जरूरत नहीं होती। पर इसका मतलब यह नहीं कि तीन पैर की गाड़ी निरर्थक हो गयी। उसकी भी उपयोगिता है। इसी प्रकार, लोगों को मर्यादा में बाँधकर रखने के लिए जैसे पुलिस के डण्डे की जरूरत है, वैसे ही पाप या नरक के डर की भी उपयोगिता है। यह पाप का डर पुलिस के भय की अपेक्षा अधिक कारगर सिद्ध होता है। पर जब समाज में अनीति और अधर्म का बोलबाला होने लगता है, तो यह नरक का भय समाप्त हो जाता है।

यहाँ पर अर्जुन श्रीभगवान् को 'कृष्ण' और 'वार्ष्णेय' ये दो नाम लेकर पुकारता है। इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि वह अपने कथन की ओर भगवान् की दृष्टि

विशेष रूप से आकर्षित करना चाहता है। वृष्णि-वंश में जन्म लेने के कारण श्रीकृष्ण को 'वार्ष्णेय' कहते हैं। तो, अर्जुन समाज में पाप का डर समाप्त हो जाने से जिस वर्णसंकरता को उत्पन्न देखता है, उसके दोष बतलाते हुए कहता है —

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।।४२।।

(संकरः) वर्णसंकरता (कुलघ्नानां) कुलघातियों की (च) और (कुलस्य) कुल की (नरकाय एव) नरक-प्राप्ति का ही कारण बनती है (हि) क्योंकि (एषां) इनके (पितरः) पितर लोग (लुप्तपिण्डोदकक्रियाः) पिण्ड-तर्पण आदि क्रियाओं के लुप्त हो जाने से (पतन्ति) गिर जाते हैं।

"वह वर्णसंकरता उन कुलघातियों और कुल के लिए नरक का ही कारण बनती है, क्योंकि उनके पितर लोग पिण्ड-तर्पण आदि क्रियाओं के लुप्त हो जाने से पतित हो जाते हैं।"

अर्जुन के अनुसार कुलक्षय का पाँचवाँ दोष यह है कि वर्णसंकर सन्तानों के कारण पिण्ड-तर्पण आदि क्रियाएँ लुप्त हो जाती हैं, जिससे पितर पतित हो जाते हैं, अर्थात् पितृलोक से च्युत हो जाते हैं। और कुलक्षय का छठा दोष यह है कि कुल के सारे लोग इन उपर्युक्त कारणों से नरकगामी बन जाते हैं। तात्पर्य यह कि पिण्डोदक न मिलने से पितरगण स्वर्ग से गिरकर नरक में चले गये। जो लोग कुलनाश के कारण हैं, वे यदि उसी कुल के हैं, तो उनका भी पिण्डोदक लुप्त ही हो गया, अतः वे भी नरक-गामी होंगे। और यदि वे लोग दूसरे कुल के हैं, तो

कुलनाश का पाप उन्हें नरकवासी बना देगा।

प्रश्न उठता है कि पिण्ड-तर्पण आदि क्रियाओं के अभाव में मनुष्य को नरक जाना पड़े यह कैसे सम्भव है? क्या इसकी कोई वैज्ञानिक व्याख्या है? इसका उत्तर प्राप्त करने के लिए हमें श्राद्ध-विज्ञान की मीमांसा करनी पड़ेगी। किन्तु इस पर विशेष चर्चा तो आगे आठवें अध्याय में करेंगे, जहाँ पर मृत्यु के उपरान्त जीव की गति पर विचार किया गया है। यहाँ केवल मोटे तौर पर यह देख लें कि पितर-पूजा का रहस्य क्या है।

बहुत से विद्वान् पितर-पूजा से ही धर्म का आविर्भाव मानते हैं। मनुष्य अपने दिवंगत सम्बन्धियों की स्मृति सजीव रखना चाहता है और सोचता है कि यद्यपि उनके शरीर नष्ट हो चुके, फिर भी वे जीवित हैं। इसी विश्वास पर वह उनके लिए खाद्यान्न पदार्थ रखना चाहता है और इस प्रकार एक अर्थ में उनकी पूजा करना चाहता है। मनुष्य की इसी भावना से धर्म का विकास हुआ। स्वामी विवेकानन्द लन्दन में दिये गये 'धर्म की आवश्यकता' नामक अपने व्याख्यान में कहते हैं—

मिश्र, बेबिलोन, चीन तथा अमेरिका आदि के प्राचीन धर्मों के अध्ययन से ऐसे स्पष्ट चिह्नों का पता चलता है, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि पितर-पूजा से ही धर्म का आविर्भाव हुआ है। प्राचीन मिस्रवासियों की आत्मा सम्बन्धी धारणा द्वित्वमूलक थी। उनका विश्वास था कि प्रत्येक मानव-शरीर के

भीतर एक और जीव रहता है, जो शरीर के ही समरूप होता है और मनुष्य के मर जाने पर भी उसका यह प्रतिरूप-शरीर जीवित रहता है। किन्तु यह प्रतिरूप-शरीर तभी तक जीवित रहता है, जब तक मृत शरीर सुरक्षित रहता है। इसी कारण से हम मिस्रवासियों में मृत शरीर को सुरक्षित रखने की प्रथा पाते हैं और इसी के लिए उन्होंने विशाल पिरामिडों का निर्माण किया, जिसमें मृत शरीर को सुरक्षित रखा जा सके। उनकी धारणा थी कि अगर इस शरीर को किसी तरह की क्षति पहुँची, तो उस प्रतिरूप-शरीर को ठीक वैसी ही क्षति पहुँचेगी। यह स्पष्टतः पितर-पूजा है। बेबिलोन के प्राचीन निवासियों में भी प्रतिरूप-शरीर की ऐसी ही धारणा देखने को मिलती है, यद्यपि वे कुछ अंश में इससे भिन्न हैं। वे मानते हैं कि प्रतिरूप-शरीर में स्नेह का भाव नहीं रह जाता। उसकी प्रेतात्मा भोजन और पेय तथा अन्य सहायताओं के लिए जीवित लोगों को आतंकित करती है। अपने बच्चों तथा पत्नी तक के लिए उसमें कोई प्रेम नहीं रहता। प्राचीन हिन्दुओं में भी इस पितर-पूजा के उदाहरण देखने को मिलते हैं। चीनवालों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा जा सकता है कि उनके धर्म का आधार पितर-पूजा ही है और यह अब भी समस्त देश के कोने कोने में परिव्याप्त है। वस्तुतः चीन में यदि कोई धर्म प्रचलित माना जा सकता है, तो वह केवल यही है। इस तरह ऐसा प्रतीत होता है कि

धर्म को पितर-पूजा से विकसित माननेवालों का आधार काफी सुदृढ़ है।

तात्पर्य यह हुआ कि संसार के प्रायः सभी प्राचीन धर्म पितर-पूजा को किसी न किसी रूप में मान्यता प्रदान करते रहे हैं। हिन्दू धर्म तो विशेष रूप से इसमें आस्था रखता है और वर्ष में एक पखवाड़ा उसने 'पितृपक्ष' के रूप से नियत कर रखा है। पिण्ड-तर्पण आदि के पक्ष में इतना ही कह सकते हैं कि मनुष्य की भावना संक्रमण-शील होती है, इसलिए यदि मैं किसी के कल्याण हेतु शुभ विचार प्रेरित करूँ, तो उन विचारों का प्रभाव उस व्यक्ति पर पड़ता है। जब मनुष्य मर जाता है, तो सूक्ष्म शरीर में विद्यमान रहता है। ऐसे सूक्ष्म शरीर पर हमारे विचारों का प्रभाव और भी अधिक पड़ता है। पिण्ड-तर्पण आदि का तात्पर्य यह है कि हम दिवंगत आत्मा की तुष्टि के लिए मानो तीव्र कामना करते हैं। पिण्ड और जल प्रतीक हैं। मृतात्मा इस पिण्ड और जल का ग्रहण नहीं करता। ये प्रतीक तो हमारी भावना को तीव्र बनाने के लिए हैं। मन्त्रोच्चार भावना को तीव्र बनाने में सहायक होता है। पिण्डोदक दान में एक प्रथा और है—सच्चरित्र ब्राह्मणों को भोजन से तृप्त करना। इसका आशय तो यह था कि शुद्धहृदय, निष्पाप ब्राह्मण जब श्राद्ध-भोज में आते हैं, तो वे अपने भीतर उन पितरों का आवेश मानकर आते हैं, जिनका श्राद्ध किया जा रहा है। वे भोजन-पानादि के समय यह कल्पना करते हैं कि

उनमें आविष्ट यजमान के पितृगण उनके माध्यम से तृप्त हो रहे हैं। मृतात्मा सूक्ष्म शरीर में रहने के कारण स्थूल भोजन-पानादि का ग्रहण नहीं कर सकता, वह किसी स्थूल शरीर के माध्यम से वह सब ग्रहण कर परितुष्ट होना चाहता है, यह सिद्धान्त तो हम सब जानते ही हैं। इसीलिए कभी कभी हमें सुनायी पड़ता है कि अमुक अमुक पर भूत चढ़ आया है। ऐसी घटना उपर्युक्त सिद्धान्त की ही द्योतक है। स्मृति-ग्रन्थों में एक श्लोक प्राप्त होता है—

निमंत्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥

—'जिन ब्राह्मणों को श्राद्ध के पूर्व दिन निमंत्रित किया जाता है, उन ब्राह्मणों के शरीर में वे पितर लोग आकर निवास कर लेते हैं और वायु के समान उनके साथ विचरते रहते हैं; वे जहाँ बैठे, पितरगण भी वहीं बैठ जाते हैं।' यही कारण है कि निमंत्रण प्राप्त होते ही ब्राह्मणों को विशेष नियम से रहने का विधान शास्त्रों में किया गया है और उनसे यह अपेक्षा की गयी है कि वे ऐसा मानकर व्यवहार करें कि उनमें पितरों का आवेश है।

इस सन्दर्भ में वाल्मीकि रामायण का एक प्रसंग उल्लेखनीय है। श्रीरामचन्द्रजी को चित्रकूट में भरतजी से अपने पिता के देहावसान का समाचार मिलता है। जब वह मरण-तिथि उपस्थित हुई, तो श्रीरामचन्द्रजी वन में ही श्राद्ध का आयोजन करते हैं। जो कुछ वन में

उपलब्ध है, उसी से सीताजी भोजन तैयार करती हैं। जब समय पर वनवासी ब्राह्मणगण भोजन के लिए आते हैं, तो सीताजी दौड़कर कहीं छिप जाती हैं। श्राद्ध का समय निकलता देख श्रीरामजी लक्ष्मणजी के साथ मिलकर आगन्तुक मुनियों को भोजन कराते हैं और पिण्ड-दान आदि सम्पन्न करते हैं। ब्राह्मणों के चले जाने पर सीताजी वनकुंज से निकलकर आती हैं। श्रीराम उनसे पूछते हैं—

किमर्थं सुभ्रु नष्टासि मुनीन् दृष्ट्वा समागतान् ।

—'हे सुन्दर भ्रू वाली जानकी! मुनियों को आते देख तुम छिप क्यों गयीं?' वन में तो मुनियों से परदा करने का कोई प्रयोजन नहीं। इस पर सीताजी उत्तर देती हैं—

पिता तव मया दृष्टो ब्राह्मणांगेषु राघव ।

—'हे राघव! मैंने ब्राह्मणों के शरीर में आपके पिताश्री को देखा।' सीताजी आगे कहती हैं कि जिन महाराज दशरथ ने मुझे सदैव वस्त्राभरणों से सज्जित देखा है, यदि वे मेरा यह वन्य वेशभूषावाला रूप देखते, तो उन्हें कितना दुःख न होता! फिर, जो भोजन राजाओं के दासों के दास भी नहीं खाते, उसे मैं उनके सामने कैसे परोसती? यही विचार कर मैं छिप गयी थी।

तात्पर्य यह कि पिण्डोदक आदि कर्म प्राचीन काल से भारत में प्रचलित हैं। इसमें भावना की ही महत्ता है। किसी किसी स्थानविशेष को श्राद्ध कर्मादि के लिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसका मतलब यही है कि उन स्थानों में जाने से श्राद्धकर्ता की भावना अधिक तीव्र

हो जाती हैं। जैसे मन्दिर में जाने से हमारी धर्मभावना तीव्र होती है, वैसे ही स्थानविशेष अपने से सम्बन्धित भावना को तीव्र करने में सहायक होते हैं। पितृपक्ष के रूप में पिण्डोदक आदि क्रियाओं के लिए जो एक विशेष अवधि निर्धारित की गयी है, उसका भी तात्पर्य इस भावना को तीव्र करने में ही है। जैसे, पूजा का यदि एक नियत समय है, तो उसमें मन पूजा की ओर अपने आप उन्मुख होने लगता है। पर आजकल अन्य क्षेत्रों के समान इस क्षेत्र में भी गिरावट हो गयी है। भावना को तीव्र करने के साधन आज वस्तुतः शोषण के साधन बन गये हैं। न तो वैसे शुद्ध आचरणसम्पन्न ब्राह्मण मिलते हैं, न ही श्राद्धकर्ताओं में वैसी तीव्र भावना होती है।

एक भाई ने एक प्रसिद्ध सन्त से पूछा, 'क्या हम बिना किसी पुरोहित की सहायता लिए घर में ही श्राद्ध-कर्म सम्पन्न कर सकते हैं? ऐसा करें तो क्या पितर लोग तृप्त होंगे?' उन्होंने कहा–– 'क्यों नहीं, अवश्य कर सकते हो। प्रश्न तो भावना का है। एकाग्रचित्त से पितरों की तुष्टि की कामना करो, उसी से उनकी तृप्ति होगी। कहीं जाने की या किसी पण्डे-पुरोहित को बुलाने की जरूरत नहीं।'

यहाँ एक प्रश्न और उठ सकता है। यदि किसी के प्रति शुभ की भावना तीव्र करने से उसे उसका लाभ मिल सकता है, तो यदि अशुभ की भावना तीव्र की गयी, तब तो उसकी हानि होनी चाहिए? इसके उत्तर में

वक्तव्य यह है कि तर्क की दृष्टि से यह बात ठीक तो मालूम पड़ती है, पर व्यवहार में कुछ भिन्न हुआ करता है। जब हम शुभ की भावना प्रेषित करते हैं, तो हमारा चित्त शान्त हो जाता है। शान्त चित्त से प्रेषित किये गये विचार अधिक तीव्र और गहराई तक भेदन करनेवाले होते हैं। इससे विपरीत, जब हम मन में किसी के प्रति अशुभ की भावना उठाते हैं, तो मन चंचल हो जाता है, और क्षुब्ध एवं चंचल मन से प्रेषित किये गये विचारों में भोथरापन होता है। ऐसे विचारों का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा करता।

उपर्युक्त मीमांसा का निष्कर्ष यह है कि पिण्ड-तर्पण आदि क्रियाएँ भावनाप्रधान हैं। इन क्रियाओं से भावना तीव्र होती है और जिनके प्रति भावना की जाती है, उन्हें उसका लाभ मिलता है। पर ऐसा सोचना कि इन क्रियाओं के अभाव में मनुष्य नरकगामी होता है, कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण मालूम पड़ता है। साथ ही, ऐसा भी विचार रखना कि दुष्कर्मों के फल से मृत्यु के उपरान्त नरक को प्राप्त होनेवाला व्यक्ति पिण्ड-तर्पण आदि के द्वारा नरक से छुटकारा पा जायगा, अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है। अर्जुन को परम्परा से जो ज्ञात हुआ था, उसे वह भगवान् श्रीकृष्ण के समक्ष कह देता है। अगले दो श्लोकों में वह अपनी उसी बात को दुहराता है। जिस बात पर हम जोर देना चाहते हैं, उसे दुहरा दिया करते हैं। अर्जुन भी जोर देता हुआ कहता है --

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

(कुलघ्नानां) कुलघातियों के (एतैः वर्णसंकरकारकैः दोषैः) इन वर्णसंकरकारी दोषों से (शाश्वताः) सनातन (जातिधर्माः) जातिधर्म (कुलधर्माः च) और कुलधर्म (उत्साद्यन्ते) नष्ट हो जाते हैं।

(जनार्दन) हे जनार्दन (उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां) कुलधर्मभ्रष्ट मनुष्यों का (नियतं) निस्सन्देह (नरके वासः) नरक में वास (भवति) होता है (इति अनुशुश्रुम) ऐसा सुना है।

"(इस प्रकार) वर्णसंकरता को उत्पन्न करनेवाले उपर्युक्त दोषों से उन कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं।"

"हे जनार्दन ! जिनके कुलधर्म नष्ट हो चुके हैं ऐसे मनुष्यों का निस्सन्देह नरक में वास होता है, ऐसा हमने सुना है।"

और मन ही मन इन घोर परिणामों की कल्पना से अर्जुन का हृदय काँप उठता है। वह खेद प्रकट करते हुए कहता है—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

(अहो बत) अहो, कितने दुःख की बात है (वयं) हम लोग (महत्पापं कर्तुं) महान् पाप करने के लिए (व्यवसिताः) कृत-संकल्प हुए हैं यत् जो कि (राज्यसुखलोभेन) राज्य-सुख के लोभ से (स्वजनं) स्वजनों को (हन्तु) मारने के लिए (उद्यताः) तैयार हैं।

"अहो ! कितने दुःख की बात है कि हम लोग बड़ा भारी पाप

करने का निश्चय कर बैठे हैं, जो कि इस तुच्छ राज्य-सुख के लोभ से अपने कुटुम्ब का नाश करने के लिए तैयार हो गये हैं !"

और अन्त में अर्जुन अपना निश्चय व्यक्त करते हुए कहता है—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

(यदि) यदि (शस्त्रपाणयः धार्तराष्ट्राः) शस्त्रधारी धृतराष्ट्र-पुत्र (अशस्त्रम् अप्रतीकारं मां) मुझ निहत्थे और सामना न करनेवाले को (रणे) युद्ध में (हन्युः) मार दें (तत्) वह (मे) मेरे लिए (क्षेमतरं) अधिक मंगलकारी (भवेत्) होगा ।

"यदि मुझ निहत्थे और सामना न करनेवाले को ये शस्त्र-धारी धृतराष्ट्र-पुत्र रण में मार डालें, तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारी रहेगा !"

यहाँ पर अर्जुन की मानसिक दशा द्रष्टव्य है। वह निहत्था, बिना किसी प्रतिकार के, मारा जाना पसन्द करता है। मोह की तीव्रता कितनी है ! धृतराष्ट्र के समक्ष अर्जुन की दशा चित्रित करते हुए **संजय उवाच**—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

(संजयः) संजय (उवाच) बोला—

(अर्जुनः) अर्जुन (एवम् उक्त्वा) ऐसा कहकर (संख्ये) रणभूमि में (सशरं चापं) बाणों के साथ धनुष को (विसृज्य) छोड़कर (शोकसंविग्नमानसः) शोक से विमूढ़चित्त हो (रथोपस्थे) रथ के ऊपर (उपाविशत्) बैठ गया ।

"संजय बोला—(राजन् !) उस रणभूमि में अर्जुन इस प्रकार कहकर बाणों सहित धनुष को छोड़ शोकाकुल-चित्त हो रथ के ऊपर बैठ गया ।"

अभी तक अर्जुन हाथ में धनुष और बाण ले सारथि के पास रथ में आगे खड़ा था। अब वह रथ के पीछे भाग में, जो विश्राम के लिए खाली रहता था और जिसे 'रथोपस्थ' कहते थे, धनुष-बाण को हाथों से छोड़कर बैठ जाता है। यह उसकी मानसिक विह्वलता का परिचायक है। इस प्रकार गीता की भूमिकास्वरूप यह पहला अध्याय समाप्त होता है।

•

हे मेरे युवकबन्धुगण, तुम बलवान बनो—यही तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है। गीता पाठ करने की अपेक्षा तुम फुटबाल खेलने से स्वर्ग के अधिक समीप पहुँचोगे। मैंने अत्यन्त साहसपूर्वक ये बातें कही हैं और इनको कहना अत्यावश्यक है, कारण मैं तुमको प्यार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि कंकड़ कहाँ चुभता है। मैंने कुछ अनुभव प्राप्त किया है। बलवान शरीर से और मजबूत पुट्ठों से तुम गीता को अधिक समझ सकोगे।

—स्वामी विवेकानन्द

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) सच्चे ब्रह्मचारी की भावना

एक दिन एक जिज्ञासु ने श्रीरामकृष्ण परमहंस से पूछा, "महाराज! आपका विवाह हो चुका है, फिर भी आप गार्हस्थ्य-जीवन नहीं बिताते, इसका क्या कारण है?"

परमहंस देव बोले—सुनो, मैं तुम्हें भगवान् कार्तिकेयजी का एक किस्सा सुनाता हूँ। एक दिन कार्तिकेय ने बालसुलभ चेष्टा से एक बिल्ली को नोंच-खरोंच दिया। जब वे घर आये, तो उन्हें माँ के गालों पर खरोंच दिखायी दी। उन्होंने साश्चर्य पूछा, "माँ! तुम्हारे गालों पर यह खरोंच कैसे लगी है?" पार्वतीजी बोलीं, "बेटा! यह तेरे ही कारण तो हुआ है।"

कार्तिकेय बोले, "मगर मैंने तो कभी भी नाखूनों से तुम्हें खरोंचा नहीं है!" माता बोलीं, "क्या तूने आज बिल्ली को नोंचा-खरोंचा नहीं है?" कार्तिकेय बोले, "हाँ, नोंचा तो है, मगर उसके निशान तुम्हारे गालों पर कैसे उभर आये?" माता ने उत्तर दिया, "बेटे! जगत् में जितने भी नारी-रूप हैं, उन सबमें मैं ही तो हूँ। तू यदि नारी-जाति में किसी को सताता है, तो ध्यान रख कि मुझे ही सताता है!"

यह सुन कार्तिकेय अवाक् रह गये। उन्हें प्रतीति हुई कि जगत् की सारी नारी-जाति उनकी माता के समान है। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अब वे कभी भी विवाह न करेंगे, क्योंकि विवाह वे करें भी तो किससे? जगत्

की सारी स्त्रियाँ उनकी माता जो हैं।

श्रीरामकृष्ण देव हँसकर बोले, "बस, कार्तिकेयजी के समान जगत् की सारी स्त्रियाँ मेरी माता होने के कारण मैं गार्हस्थ्य जीवन नहीं बिताता।"

(२ परीक्षा

एक बार गुरु नानक मुलतान शहर पहुँचे। वहाँ के पीरों-फकीरों ने उनकी परीक्षा लेनी चाही कि यह व्यक्ति कोई देवपुरुष है या ढोंगी? इस शहर में करामाती पीरों-फकीरों और पहुँचे हुए लोगों का जमघट था। उन्होंने नानकदेव के पास दूध से लबालब भरा एक कटोरा भेजा। इसका अभिप्राय यह था कि जिस प्रकार इस भरे कटोरे में और एक बूँद दूध के लिए जगह नहीं, उसी प्रकार मुलतान शहर में पीरों-फकीरों का इतना आधिक्य है कि यहाँ तुम्हारे लिए जगह नहीं!

नानकदेव ने अभिप्राय समझ लिया और उन्होंने उस गिलास में दो बताशे डाल दिये और ऊपर से एक गुलाब का फूल भी रख दिया। इसका अभिप्राय यह था कि बताशे अपने माधुर्य से जिस प्रकार दूध को मीठा कर देते हैं तथा फूल के रहते हुए भी दूध बिगड़ नहीं रहा है, बल्कि उससे सुगन्ध निस्सरित हो रही है, उसी प्रकार मेरे यहाँ आने से आपको कोई हानि नहीं पहुँचेगी, उलटे सत्संग और ज्ञान का लाभ ही होगा। यह देख वे पीर-फकीर जान गये कि यह व्यक्ति कोई साधारण नहीं, बल्कि पहुँचा हुआ है। उन लोगों के मुख से सहसा उद्गार निकल पड़ा—"आप सचमुच औलिया (सिद्ध

पुरुष) हैं! आइये, हम आपका स्वागत करते हैं।" और उन्होंने नानकदेव के साथ सत्संग किया।

(३) तत्त्वबोध

कोमलांग राजकुमार सिद्धार्थ जीवन से ऊब गये थे। उनकी समस्त इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी थीं। इच्छाएँ समाप्त, अहंकार नष्ट तथा तृष्णाएँ तिरोहित हो चुकी थीं, लेकिन वास्तविक मार्ग उन्हें सूझ न रहा था—समस्या का समाधान न हो रहा था। वे राजसिंहासन पर बैठ विचार किया करते। परिणामस्वरूप उनकी काया निर्बल हो चली।

अकस्मात् एक दिन स्त्रियों का एक समूह रास्ते में उनके समीप से गुजरा। उन स्त्रियों के मुख से अनुपम स्वर-लहरी प्रस्फुटित हो रही थी। सामूहिक गान के साथ वीणा भी झंकृत हो रही थी। गीत के शब्दों का अर्थ था—'वीणा के तारों को इतना मत कसो कि वे टूट जायें, न ही इतनी ढील दो कि उनसे ध्वनि ही न निकले।'

बस, गीत के इन बोलों का सिद्धार्थ पर असर हुआ और उन्हें राह दिखायी देने लगी। उनका हृदयरूपी कमल खिल गया। वे बुद्धत्व की ओर उन्मुख हो गये। बोले— "तत्त्वबोध हो गया!" और वे नवीन दर्शन—'मध्यम मार्ग' की ओर अग्रसर हो गये।

(४) सेवाभाव

शीतकाल के दिन थे। एक दिन धूनी तापते तापते सन्त साईंबाबा ने अपना एक हाथ धूनी के अंगारों पर डाल दिया। हाथ जल गया और उस पर घाव बन गये। थोड़ी ही देर में बात उनके एक शिष्य माधवराव देशपांडे

को पता चली, तो उन्होंने पूछा, "बाबा! जलती धूनी में हाथ क्यों रख दिया ?"

बाबा ने उत्तर दिया, "हाथ नाहक ही नहीं रखा था। एक गरीब लुहार स्त्री का बच्चा अचानक जलती हुई भट्ठी में गिर पड़ा था। उसे नहीं निकालता तो कैसे चलता? मुझे अपने घावों की चिन्ता नहीं; मैं उस बच्चे को बचा सका हूँ, इसलिए मुझे कोई पीड़ा अनुभव नहीं हो रही है!"

(५) भगवत्-प्राप्ति का मार्ग

एक बार सन्त इब्राहीम से एक व्यक्ति ने शिकायत की—"हम नित्य ईश्वर का स्मरण करते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, किन्तु वह तो आता ही नहीं। उसका तो हमारी ओर ध्यान ही दिखायी नहीं देता।"

सन्त इब्राहीम ने उत्तर दिया—"यह सत्य है कि तुम ईश्वर का नित्य स्मरण करते हो। यह भी सत्य है कि तुम उसकी नित्य पूजा भी करते हो, किन्तु मुझे यह बताओ कि क्या तुम उससे प्रेम करते हो? तुम तो उसकी अवज्ञा करते हो और नियमों का पालन ठीक तरह से नहीं करते। स्वर्ग का द्वार तुम्हारे लिए खुला हुआ है, मगर तुम उस द्वार तक पहुँचने का प्रयास भी नहीं करते, तुम्हें यह भी अच्छी तरह से मालूम है कि पाप का परिणाम बुरा होता है, फिर भी नित्य पाप किये जाते हो। तुम्हें यह भी मालूम है कि मृत्यु अवश्यम्भावी है और कभी भी आ सकती है, मगर तुमने कभी भी उसके आने की तैयारी नहीं की। तुम यह जानते हो कि

शैतान तुम्हारा शत्रु है, फिर भी तुम उसे गले लगाये रखते हो। यदि तुम्हारी हार्दिक इच्छा है कि ईश्वर तुम्हारे पास आये, तो प्रथम तुम्हें अपना हृदय पाक (पवित्र) रखना होगा। याद रखो, भोगों से अनासक्ति और ईश्वर से अनुरक्ति ही तुम्हें ईश्वर के पास ले जा सकती है।"

(६) **सच्चा दान**

एक बार प्रभु ईसा जेरुसलम के चर्च में गये। वहाँ एक सन्दूक रखी हुई थी, जिसमें लोग श्रद्धा से सोना, चाँदी, सिक्के इत्यादि डाला करते थे। इस धन को गरीबों की सहायतार्थ खर्च किया जाता था। ईसा ने देखा कि धनी लोग अपनी अपनी योग्यतानुसार बड़े अभिमान के साथ सबको दिखा-दिखाकर उसमें पैसा डाल रहे हैं। इतने में एक विधवा वहाँ आयी और उसने उस सन्दूक में दो पैसे डाले। यह देख प्रभु ईसा वहाँ उपस्थित लोगों से बोले— "वास्तव में इस गरीब विधवा ने सबसे श्रेष्ठ दान किया है। अन्य लोग तो अपने धन में जो वृद्धि हुई है, उसे डाल रहे हैं, जबकि इस विधवा ने अपनी बचत में से डाला है। इससे उसका खर्च चल सकता था, किन्तु इसने उसकी परवाह किये बिना सहर्ष दान कर दिया; इसलिए इसने सच्चा दान किया है। याद रखो, प्रत्येक व्यक्ति को अपने मन के अनुसार दान करना चाहिए, जबरदस्ती या दबाव से नहीं; क्योंकि प्रभु अपनी खुशी से देनेवाले से प्रेम करता है, न कि अनिच्छापूर्वक देनेवाले से!"

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

१५ फरवरी को स्वामीजी ने 'यूनिटेरियन चर्च' में 'हिन्दू धर्म' पर वक्तृता दी। लोगों की उपस्थिति पहले दिन से भी ज्यादा थी। किन्तु बिशप के भय से समाचार-पत्रों ने इसका सही विवरण नहीं छापा और जिन्होंने छापा भी, वह विकृत और विद्वेषपूर्ण था। बिशप निण्डे बड़े कट्टरपन्थी थे। डिट्रायट के आभिजात्य समाज में उनका काफी दबदबा था। इसलिए संवाददाता उनके विचारों के विरुद्ध जाने का साहस नहीं कर पाये। केवल 'डिट्रायट ट्रिब्यून' ने निरपेक्ष भाव से १६ फरवरी के अंक में स्वामीजी के भाषण का विवरण संक्षेप में दिया। उक्त भाषण में स्वामीजी ने भारत की धार्मिक सहिष्णुता का वर्णन करते हुए कहा था--

"जब रोमनों ने जेरुसलम को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, तब कई हजार यहूदियों ने भारत में आकर शरण ग्रहण की। जब पारसियों को अरबवालों ने उनकी मातृभूमि से भगाया, तब हजारों पारसी लोगों ने इसी देश में शरण पायी। यहाँ किसी के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया गया। हिन्दू विश्वास करते हैं कि सभी धर्म सत्य हैं, किन्तु उनका धर्म सर्वाधिक प्राचीन है। हिन्दू कभी भी मिशनरियों के प्रति दुर्व्यवहार नहीं करते। प्रथम अंग्रेज मिशनरी ने जब भारत आना चाहा, तब अंग्रेजों ने ही

उसे आने से रोका था। पर एक हिन्दू की सहायता से वह आने में समर्थ हुआ और हिन्दुओं ने ही उसका सर्वप्रथम स्वागत किया। धर्म वह है, जो सबमें विश्वास करता है...। हिन्दू दार्शनिकों का कथन है कि सत्य से सत्य की ओर, निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर जाया जाता है। जो लोग यह सोचते हैं कि एक समय ऐसा आयेगा, जब सब लोग एक ही जैसा सोचेंगे, तो वे निरर्थक स्वप्न देखते हैं, क्योंकि तब तो धर्म की मृत्यु हो जायेगी। प्रत्येक धर्म अनेक सम्प्रदायों में विभक्त है और प्रत्येक अपने को सत्य और दूसरों को असत्य कहता है। बौद्ध (हिन्दू) धर्म नें कभी अत्याचार को स्थान नहीं दिया। सर्वप्रथम धर्मप्रचारक भेजनेवाला यही धर्म था। और एकमात्र यही ऐसा था, जिसने बिना रक्त की एक बूँद गिराये करोड़ों लोगों को अपने धर्म में दीक्षित किया। अपने तमाम दोषों और अन्ध-विश्वास के बावजूद हिन्दुओं ने कभी किसी को उत्पीड़ित नहीं किया। पर ईसाइयों ने उन अत्याचारों को क्यों होने दिया, जो प्रत्येक ईसाई देश में सर्वत्र व्याप्त हैं?..."

अवश्य इस वक्तृता में भी स्वामीजी ने पाश्चात्य मनोवृत्ति पर किंचित् कटाक्ष किया था, पर यह कटाक्ष ईसाई धर्म के प्रति नहीं था। यह तो उन असहिष्णु ईसाई मिशनरियों के प्रति कटाक्ष था, जिनका दावा था कि सारे विश्व को धार्मिक बनने के लिए ईसाई बनना ही पड़ेगा और बिना ईसाई बने उसका उद्धार नहीं होगा। अपने इस उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिए ये मिशनरी

भारत में हर प्रकार के हीन तरीकों का व्यवहार कर रहे थे। अतः स्वामीजी के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वे इन कट्टरपन्थियों के कथनों को गलत साबित कर हिन्दू धर्म का वास्तविक चित्रण लोगों के सामने उपस्थित करें। भारतमाता ही उनकी परमाराध्या थी और किसी भी मूल्य पर वे उसका अपमान नहीं सह सकते थे। अतः स्वाभाविक ही उनके भाषणों में यदा-कदा विदेशियों द्वारा अपने देश पर किये गये अत्याचार के प्रति आक्रोश प्रतिध्वनित हो उठता था।

स्वामीजी की इन वक्तृताओं का सही विवरण भगिनी क्रिस्टीन के संस्मरण में प्राप्त होता है। वे लिखती हैं—"यूनिटेरियन चर्च में जो लोग पहले व्याख्यान में आये, वे लोग दूसरे और तीसरे व्याख्यानों में भी आये तथा अपने साथ दूसरों को भी लेते आये—यह कहकर कि आओ, इस अद्‌भुत व्यक्ति को सुनो; अभी तक हमने जिनको सुना है, उनमें से कोई भी इनकी बराबरी नहीं कर सकता। और लोग भी इतने आये कि कमरे में खड़े होने की भी जगह नहीं मिली। कमरा ठसाठस भर गया। लोग बरामदे में खड़े खिड़कियों से झाँकने लगे। स्वामीजी ने अपने विचारों को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया। वे कभी रामायण और महाभारत की कथाएँ सुनाते, तो कभी पुराणों और लोकगाथाओं के माध्यम से अपना सन्देश उपस्थित करते। वे बहुधा उपनिषदों से उद्धरण देते थे। पहले वे संस्कृत के श्लोकों का गान करते और फिर उनका

कवित्वमय मुक्त अनुवाद प्रस्तुत करते। उनके द्वारा उच्चारित शब्दों का प्रभाव तो अद्‌भुत था ही, किन्तु श्लोकों के गान का प्रभाव अप्रतिम था। अतल गहराइयों को मथती हुई जब उनके स्वरों की लय कानों में पहुँचती, तो श्रोतागण तन्मय हो साँस रोककर बैठे रहते। मेरे विचार से, भारत के प्रति हमारा प्रेम उसी दिन जागा, जिस दिन हमने पहली बार उनकी अद्‌भुत वाणी से INDIA (भारत) शब्द का उच्चारण सुना। यह अविश्वसनीय लगता है कि पाँच अक्षर के उस छोटे से शब्द में भी इतनी शक्ति भरी जा सकती है! प्रेम, अनुराग, गर्व, आकांक्षा, श्रद्धा, व्यथा, शौर्य तथा पुनः प्रेम ही प्रेम--ये सारे के सारे उस छोटे से शब्द में समाये हुए थे। जो प्रभाव हम पर इसने डाला, वह बड़े से बड़े ग्रन्थ भी नहीं डाल सकते थे। इसमें दूसरे के अन्दर प्रेम उत्पन्न कर देने की जादुई शक्ति थी। बाद में भारतभूमि हृदय की अभिलाषा बन गयी। उससे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु अभिरुचि का विषय बन गयी। उसका इतिहास और शिल्प, उसके रीति-रिवाज, उसकी नदियाँ, पहाड़ और पठार, उसकी संस्कृति, उसकी महान् आध्यात्मिक अनुभूतियाँ और उसके शास्त्र मानो जीवन्त हो उठे और हमारा एक नया जीवन आरम्भ हुआ--अध्ययन और ध्यान का जीवन। मानो अभिरुचि का केन्द्र ही बदल गया।"

उपर्युक्त विचार केवल भगिनी क्रिस्टीन के ही नहीं थे, बल्कि ऐसे हजारों उदारमना व्यक्तियों के भी थे, जो

सही धर्म की खोज में भटक रहे थे। इन लोगों को अपने धर्म में समाधान नहीं मिल पा रहा था और ये पादरियों के वितण्डावाद और आडम्बर से त्रस्त थे। इन लोगों को विवेकानन्द मानो मुक्ति के सन्देशवाहक प्रतीत हुए। किन्तु मिशनरियों के लिए तो स्वामीजी की वाणी विषतुल्य थी। उससे उनके स्वार्थों पर कुठाराघात हो रहा था। विद्वेष की ज्वाला में दग्ध वे लोग स्वामीजी की युक्तियों का खण्डन करने के लिए कुतर्कों का सहारा लेने लगे, जिससे उनकी ही मूर्खता साबित हुई। स्वामीजी की वक्तृता की आलोचना करने जाकर वे खिसियानी बिल्ली की भाँति अपने ही सिद्धान्तों का खण्डन करने लगे। दूसरों के धर्मों के प्रति असहिष्णुता के भाव की जो निन्दा स्वामीजी ने की थी, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण अमरीकी जनता ने अपने घर में ही पाया था। ईसाई धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय आपस में जिस प्रकार संघर्षरत थे तथा एक दूसरे की निन्दा में लगे हुए थे, उससे वहाँ के प्रबुद्ध लोगों में धर्म के प्रति अनास्था और विरक्ति का भाव पैदा हो गया था। अतः कट्टरपन्थियों ने स्वामीजी की जो आलोचनाएँ कीं, वे इन उदारचेता व्यक्तियों को सह्य नहीं हुईं। यद्यपि स्वामीजी ने कभी इन आलोचनाओं का उत्तर नहीं दिया, पर उनके हितैषी चुप बैठनेवाले नहीं थे। उनमें से एक ने १७ फरवरी को ओ. पी. डेलडॉक के छद्मनाम से 'फ्री प्रेस' में लिखा—

सम्पादक, डिट्रायट फ्री प्रेस

शुक्रवार के 'फ्री प्रेस' में बिशप निण्डे ने क्षमायाचना के रूप में एक कैफियत प्रस्तुत की है, जिसमें उन्होंने यह अभियोग लगाया है कि उनसे छलपूर्वक ब्राह्मण संन्यासी स्वामी विवेकानन्द की उस सभा की अध्यक्षता करायी गयी, जो यूनिटेरियन चर्च में आयोजित की गयी थी। अब उनके पत्र से ऐसा ध्वनित होता है कि ये भलेमानुस मेथॉडिस्ट बिशप यह अनुभव कर रहे हैं कि वे 'शालीनता से गिर' गये थे। और अगर इनके हृदय के अन्तरतम की बात पूछी जाय तो शायद वे यह कहना चाहेंगे कि अब वे इस कलंक के लिए पश्चात्ताप कर रहे हैं। उन्होंने जिस शालीनता के साथ उस कर्तव्य को स्वीकार कर उसका निर्वाह किया, उसकी सभी उदारमना लोगों ने तथा बहुत से ईसाइयों ने भी बड़ी प्रशंसा की है, किन्तु यह दुःख की बात है कि उन्होंने उन बातों में तटस्थ रहने का शिष्टाचार और नैतिक साहस नहीं दिखलाया, जहाँ उनके निजी विचार उक्त ब्राह्मण के विचारों से मेल नहीं खाते थे।...

बिशप निण्डे पुनः भूल करते हैं, जब वे ऐसा मन्तव्य प्रचारित करने का प्रयास करते हैं कि डिट्रायट में अकेले वे ही ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने भारत का भ्रमण किया है। उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि यह बात एकदम बेहूदी है। कुछ ही दिन पूर्व फ्रेडरिक स्टर्न्स ने अपनी भारत-यात्रा के बारे में इस शहर में वक्तृता दी थी। बिशप यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि यहाँ बीसियों

ऐसे लोग हैं, जिन्होंने उस आश्चर्यजनक देश को उतनी ही अच्छी तरह देखा है, जितना कि बिशप ने। जनता भी इस तथ्य को जानती है। कानन्द के प्रथम और अन्तिम व्याख्यानों में यह लेखक उपस्थित था। उसने देखा कि जब उस मृदुभाषी वक्ता ने प्रभावी ढंग से उन असहिष्णुतापूर्ण ईसाई तौर-तरीकों की भर्त्सना की, जो न केवल अ-ईसाइयों के प्रति, वरन् अपने से भिन्न ईसाई-सम्प्रदायों के प्रति आपस में प्रदर्शित किये जाते हैं, तब बिशप बौखला उठे और तड़फड़ाने लगे।...जैसा कि बिशप ने कहा, कानन्द का व्याख्यान कटाक्षपूर्ण अवश्य था, पर वह शत्रुतापूर्ण नहीं था, जैसा कि बिशप ने बाद में कहा।... जिस उदारता, सद्भावना और पवित्र सदाशयता के साथ ये विचार कहे गये थे, उसे समझने में बिशप असमर्थ रहे।

बिशप जोर देकर आगे यह भी कहते हैं कि भारत में जो कुछ सामाजिक और नैतिक वातावरण विद्यमान है, वह हिन्दू धर्म की चेतना से उद्भूत नहीं हुआ है, वरन् वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ईसा के उपदेशों के प्रभाव से बना है। यदि बिशप प्राचीन इतिहास में पारंगत हैं, और उन्हें होना भी चाहिए, तो वे जानते हैं कि उनका यह कथन असत्य है। बुद्ध, ब्रह्मा, कन्फ्यूशस तथा अन्य नैतिक सुधारकों की मूलभूत नीतियाँ और सद्विचार वहाँ ईसा के आगमन के बहुत पहले से ही विद्यमान थे। सदियों पहले ही वहाँ मानव-बन्धुत्व तथा

मनुष्य में देवत्व की शिक्षा प्रदान की गयी थी। यदि बिशप पूरब के देशों में एक सच्चे मिशनरी के रूप में जाना चाहते हैं, तो उन्हें 'मनुष्य में देवत्व' का प्रमुख पाठ पहले सीखना पड़ेगा, ताकि वे सचाई के साथ शान्ति और प्रेम के मधुर सन्देश का प्रचार कर सकें।

ओ. पी. डेलडॉक

स्वामीजी के पक्ष में तथा बिशप के विरुद्ध दूसरा पत्र 'फ्री प्रेस' के १८ फरवरी के अंक में प्रकाशित हुआ। इसके लेखक ने अपना नाम 'निष्पक्षता का प्रेमी' के रूप में प्रकाशित किया। उसका प्रमुख अंश कुछ इस प्रकार था—

"हिन्दू धर्म का मूल सिद्धान्त है—दूसरे धर्मों के प्रति पूर्णरूपेण सहिष्णुता का भाव। और मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि बिशप ने अपने उद्देश्य के समर्थन में काफी असहिष्णुता बरती है। वे कहते हैं कि जब उन्हें वक्ता का परिचय देने आमंत्रित किया गया, तब उनका ख्याल था कि ऐसी कोई बात नहीं कही जायेगी, जो धार्मिक पूर्वाग्रह से युक्त हो। क्या एक सामान्य व्यक्ति यह पूछने का साहस कर सकता है कि जब हम सैकड़ों मिशनरियों को भारत भेजते हैं, तो क्या एक हिन्दू मिशनरी को हम स्वीकार नहीं कर सकते? क्या एक स्वस्थ परम्परा को अपनाना उचित नहीं? और फिर इन प्रख्यात बन्धु के नैतिक उपदेशों का स्तर कितना ऊँचा है! उनका कहना है कि हमें इस सिद्धान्त को जीना होगा कि सब प्रकार की स्वार्थपरता निन्दनीय है और सब प्रकार की

निःस्वार्थता ही श्रेयस्कर है। क्या यह उपदेश महान् और उन्नायक नहीं है? क्या यह दुर्बल मानव-प्रकृति के लिए स्वर्णिम नियम (golden rule) की ही भाँति लाभदायक नहीं है? आध्यात्मिकता के क्षेत्र में संसार का सर्वाधिक श्रेष्ठ हिन्दू धर्म इस 'स्वर्णिम नियम' का भी अतिक्रमण कर जाता है। यह अपने अनुयायियों को शिक्षा देता है कि जो व्यवहार तुम अपने पड़ोसी से चाहते हो, उससे भी अच्छा व्यवहार उसके प्रति करो। क्या कोई ऐसी नैतिकता पर प्रश्नचिह्न लगा सकता है? . . .

"... बिशप का अभ्यागत के विचारों के प्रति रोष प्रकट करना आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। क्या चर्च के मिशनरी लोग, जिनके कि वे एक कुशल प्रतिनिधि हैं, उन पिछड़े अ-ईसाइयों पर अपने विचार नहीं थोपते, जो अपनी प्रतिदिन की पाँच उपासनाओं द्वारा यह दर्शाते हैं कि हिन्दू धर्म की निःस्वार्थपरता कुछ ऐसी सुन्दर चीज है, जिस पर मनन किया जाना चाहिए?...

"....मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि विवेकानन्द बिशप के पत्र का उत्तर नहीं देंगे, क्योंकि उनका सिद्धान्त है कि जहाँ धार्मिक विवाद उठ खड़ा हो, वहाँ मौन धारण करना श्रेष्ठ है। उनका कहना है कि विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों के बीच झगड़ा नहीं होना चाहिए, क्योंकि जो दूसरे के धर्म की निन्दा करता है, वह अपने ही धर्म को लांछित करता है। वे ईसाई धर्म की आलोचना नहीं करते। उन्होंने केवल यह कहा कि

अलग अलग लोगों के धर्म अलग अलग होंगे, और यह ठीक भी है। ईसाई धर्म भले कुछ लोगों की आवश्यकता पूरी करे, किन्तु हिन्दू धर्म हिन्दुस्थान के लोगों की आवश्यकता अधिक अच्छी तरह पूरी कर सकता है, क्योंकि वह उन्हें ऐसे उच्चतर नैतिक सिद्धान्तों की शिक्षा देता है, जिन्हें ग्रहण करने के लिए दूसरे देशों को स्वयं को योग्य बनाना होगा।... हम हिन्दू धर्म के उदात्त विचारों को ग्रहण करने के लायक नहीं हुए हैं और इसलिए ईसाई धर्म ही हमारी सब बातों का समाधान करता है। यह एक हत्यारी पीढ़ी है और निःस्वार्थपरता का महान् दैवी सिद्धान्त भविष्य में अभी हमसे बहुत दूर है।..."

एक तीसरे व्यक्ति ने 'ई. जे.' के नाम से बिशप की भर्त्सना करते हुए 'डिट्रायट जर्नल' के २० फरवरी के अंक में लिखा—"...हमारे ईसाई धर्म के लिए यह अधिक श्रेयस्कर होता, यदि बिशप ने बिना किसी आलोचना के विवेकानन्द के इस दावे को मान लिया होता कि भारत में अपेक्षाकृत कम नशाखोरी है। उसकी असत्यता प्रमाणित करने के लिए बिशप का यह स्वीकार करना ईसाई धर्म पर एक बहुत बड़ा लांछन है कि ईसाई देश ने, जो सभ्यता और धर्म में अपने को बुद्ध* की अपेक्षा काफी उन्नत

* तत्कालीन अमेरिका में 'बौद्ध' और 'हिन्दू' ये दो धर्म एक ही माने जाते थे। 'ब्राह्मण' भी 'बुद्ध' या 'बौद्ध' का पर्याय माना जाता था। इसीलिए वहाँ के समाचार-पत्रों में इन समस्त शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। —सं०

मानता है तथा जिसकी हम बड़ी डींग हाँका करते हैं, केवल लाभ के लालच में पड़कर इस पतनकारी व्यसन का प्रवेश शान्त और धार्मिक प्रकृति के लोगों के बीच कराया तथा वहाँ से उसे सब ओर फैला दिया। इस लांछन की तुलना में विवे कानन्द द्वारा किया गया कटाक्ष कुछ भी नहीं है।...

"जहाँ तक ईसाई धर्म पर उनके द्वारा किये गये प्रहारों का प्रश्न है, उनका डंक आक्षेपों की सत्यता में निहित है। यह हिन्दू जानता है कि हमारे बख्तर में कमजोर जोड़ कहाँ पर है। हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने और कठोर प्रहार नहीं किये। क्या हमारे मिशनरी इन विधर्मियों के प्रति, जिन्हें हम 'पेगन' कहना पसन्द करते हैं, उसी सहृदयता और अशत्रुता का व्यवहार करते हैं, जैसा विवेकानन्द ने हमारे प्रति किया है ? वे हमारा धर्म-परिवर्तन करने नहीं आये। और वास्तव में अपने अन्तिम व्याख्यान में उन्होंने इस प्रकार के सभी इरादों को अस्वीकार किया है।...

"वास्तव में सचाई यह है कि उनकी विशाल उदारता को देखकर हमें लज्जित हो जाना पड़ता है। उनका सिद्धान्त है कि हर मानव-आत्मा मुक्ति (जिसे हम 'साल्वेशन' कहते हैं) और प्रकाश की ओर सतत बढ़ने का प्रयास कर रहा है और इस प्रयास को ही वे 'धर्म' कहते हैं। उनका यह धर्म सब प्रकार के मतवादों और सम्प्रदायों से ऊपर उठा हुआ है। यूनिटेरियन चर्च में

ईसाई, यहूदी तथा अ-ईसाई श्रोताओं से भरी सभा में एक मेथॉडिस्ट बिशप को एक बौद्ध संन्यासी का परिचय देते देखकर यह अनुमान होने लगा था कि साम्प्रदायिकता की दीवार ढहने की ओर यह एक प्रयास है। किन्तु यह लज्जा की बात है कि बिशप ने ऐसे प्रशंसनीय कार्य के लिए प्रातःकालीन समाचार-पत्र का एकचौथाई कालम ऐसी अद्वितीय वस्तु से भरकर क्षमा माँगना आवश्यक समझा ! और वह भी केवल इसलिए कि यह बौद्ध ब्राह्मण कट्टर ईसाई धर्म का प्रचार नहीं करता !"

कहना न होगा कि डिट्रायट के प्रबुद्ध वर्ग के एक बहुत बड़े भाग ने इन पत्रों को पढ़ा तथा उनकी प्रशंसा की। बिशप निण्डे ने शायद यह सोचा था कि मजुमदार तथा अन्य 'प्रबुद्ध' वक्ताओं की ही भाँति स्वामीजी भी ईसाई धर्म को भारत के उद्धार के लिए आवश्यक समझेंगे। और इसीलिए स्वामीजी का परिचय देते हुए उन्होंने प्रार्थना के माध्यम से उस दिन की कामना की थी, "जब सारे देशों और सारी जातियों के लोग एक होकर सबके एकमात्र मुक्तिदाता की सेवा में जुट जायेंगे"—अर्थात् 'यीशू मसीह' की सेवा में एक हो जायेंगे। स्वामीजी के भाषण का विषय था—'भारत के रीति-रिवाज', और इसमें अपने देश का वास्तविक चित्रण करते समय उनके लिए ईसाई मिशनरियों के बारे में कुछ कहना आवश्यक हो गया था, क्योंकि इन मिशनरियों ने भारत का बड़ा ही गलत चित्रण संसार के सामने किया था और उसे

भीषण हानि पहुँचायी थी। यदि बिशप ने अपनी प्रार्थना इस प्रकार नहीं की होती, तो सम्भवतया स्वामीजी ने अपना प्रहार हल्का कर दिया होता। पर चूँकि बिशप ने यह शिष्टता नहीं बरती, इसलिए स्वामीजी के लिए यह और भी आवश्यक हो गया कि वे अपने देश के बारे में प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण करके श्रोताओं के मन से यह बात निकाल दें कि भारत की एकमात्र आशा ईसाई धर्म है।

(क्रमशः)

•

संसार का इतिहास उन थोड़े से व्यक्तियों का इतिहास है, जिनमें आत्मविश्वास था। यह विश्वास अन्तःस्थित देवत्व को ललकार कर प्रकट कर देता है। तब व्यक्ति कुछ भी कर सकता है, सर्वसमर्थ हो जाता है। असफलता तभी होती है, जब तुम अन्तःस्थ अमोघ शक्ति को अभिव्यक्त करने का यथेष्ट प्रयत्न नहीं करते। जिस क्षण व्यक्ति या राष्ट्र आत्मविश्वास खो देता है, उसी क्षण उसकी मृत्यु आ जाती है।

— स्वामी विवेकानन्द

शिवाजी पर स्वामी विवेकानन्द के विचार-९

शिवाजी और अफजल खाँ—१

डा० एम. सी. नांजुन्दाराव

(लेखक स्वामी विवेकानन्द के प्रिय भक्तों में से थे। लेखक से वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने इतिहास के ऐसे कई महत्त्वपूर्ण पृष्ठों को उजागर किया है, जो विदेशी इतिहासकारों के द्वारा अपने स्वार्थ की सिद्धि हेतु विकृत कर दिये गये थे। प्रस्तुत लेखमाला में स्वामीजी के द्वारा छत्रपति शिवाजी के जोवनवृत्त सम्बन्धी तथ्य एक नये रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत हुए हैं। इस संस्मरणावली में स्वामीजी की इतिहास में गहरी पैठ दर्शनीय है। यह लेखमाला मूल अंग्रेजी में 'वेदान्त केसरी' नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इसके ऐतिहासिक महत्त्व को देखते हुए हम हिन्दी-भाषी पाठकों के लाभार्थ इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। प्रस्तुत लेख 'वेदान्त केसरी' के फरवरी १९१६ अंक से साभार गृहीत हुआ है।—सं०)

स्वामीजी ने बताया कि अफजल खाँ की मृत्यु के बारे में तत्कालीन मराठा और मुसलमान इतिहासकारों ने परस्पर इतने विरोधी और विपरीत विवरण दिये हैं कि इतने समय बाद आज यह कहना कठिन है कि वस्तुत: सच क्या है; इन इतिहासकारों ने अपनी कल्पना के सहारे मनमाने ढंग से अपने पक्ष के अनुसार वर्णन किया है। ग्रांट डफ तथा अन्य आंग्ल इतिहासकार जिन मुसलमान इतिहासकारों का अन्धानुगमन करते हैं, उन्होंने

शिवाजी पर विश्वासघात का आरोप लगाया है,† किन्तु सभासद और चिटनीस जैसे मराठी इतिहासकारों नें बताया है कि इस विशिष्ट परिस्थिति में शिवाजी ने जगदम्बा भवानी की आज्ञा का पालन करते हुए केवल आत्मरक्षा का ही प्रयास किया था। सारी स्थिति को समझने के लिए और घटनाओं की सही-सही पड़ताल करने के लिए कुछ अन्तर्दृष्टि और श्रद्धा आवश्यक है। इस महान् देशभक्त के चरित्र एवं कार्यों पर प्रकाश डालने के लिए उन घटनाओं का वर्णन करना बहुत जरूरी है, जिन्होने शिवाजी को इस महान् कार्य के लिए प्रेरित किया था।

आबाजी सोनदेव के नेतृत्व में मराठों ने भीषण युद्ध करने के उपरान्त कल्याण को जीता था। और इसी के बाद बीजापुर की असली गड़बड़ी शुरू हुई। जब शिवाजी को इस विजय की सूचना मिली, तब उन्होंने वैसी ही उदारता बरती, जैसी प्रत्येक विजय के बाद उनके कार्यों

---

† मिसेज बीसेंट की सद्य:प्रकाशित अत्यन्त सुन्दर पुस्तिका 'इंडिया—ए नेशन' प्रत्येक महाविद्यालयीन विद्यार्थी तथा नवयुवक के लिए आवश्यक रूप से पठनीय है। उन्होंने इसमें लिखा है—"जस्टिस रानडे की पुस्तक से शिवाजी की साहसिकता, दूरदर्शिता तथा उनके विचारों से उत्पन्न मराठा राष्ट्रवाद की कहानी पढ़ी जानी चाहिये। पक्षपात से भरपूर आंग्ल प्रतिवेदनों का तिरस्कार किया जाना चाहिए, क्योंकि हमारे एंग्लो-इंडियन लोग मराठों से सर्वाधिक भयभीत थे और इसीलिए उनसे अत्यन्त घृणा करते थे।"

में दीखती थी। यद्यपि युद्धबन्दी अपने अस्त्रों और घोड़ों से रहित थे, फिर भी उनकी जान बख्श दी गयी और उन्हें बीजापुर लौटने के लिए पर्याप्त अन्न और धन दिया गया। कल्याण के हाकिम मौलाना अहमद के साथ बड़े आदर का व्यवहार किया गया और उन्हें सम्मान के साथ बीजापुर भेज दिया गया। इस सम्बन्ध में शिवाजी की महत्ता एवं गरिमा को व्यंजित करनेवाली एक अन्य घटना का उल्लेख करना भी प्रासंगिक होगा, जब शिवाजी ने स्त्रियों के सम्मान और हित की रक्षा की दृष्टि से कार्य किया था। उनका यह कार्य उनके चरित्र का दीप्तिमान अंश बनकर जीवन भर जगमगाता रहा। आबाजी सोनदेव ने कल्याण में बीजापुर के सूबेदार मौलाना अहमद की अत्यन्त सुन्दरी नवोढ़ा वधू को भी गिरफ्तार किया था। शिवाजी से पुरस्कार और सम्मान पाने की आशा से उसने उसे शिवाजी के सामने उपस्थित किया। शिवाजी तब उन्तीस वर्ष के थे। वे उसके सौन्दर्य को देखकर ठगे-से रह गये, फिर भी उन्होंने कहा, "यदि मेरी माता तुम्हारे समान सुन्दर होती, तो कितना अच्छा होता! तब मैं भी बड़ा सुन्दर दिखता!" यह कहकर उन्होंने उस नवयौवना से अपनी पुत्री का-सा व्यवहार करते हुए उसे वस्त्राभूषण प्रदान किया और उसे सुरक्षित रूप से बीजापुर पहुँचा दिया। केवल यही नहीं, प्रत्युत अनेक अवसरों पर उन्होंने अपने सैनिकों और नायकों को चेतावनी दी थी कि वे स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों और किसानों

से दुर्व्यवहार न करें। शिवाजी स्त्रियों के सम्मान की रक्षा पितृवत् स्नेह से किया करते थे। यह शिवाजी की बड़ी महानता है कि उन वहशियाना दिनों में भी अपनी वैधानिक रूप से विवाहिता पत्नियों के अलावा उन्होंने अन्य किसी स्त्री को नहीं जाना।

कल्याण के छिन जाने से बीजापुर के अधिकारी चौंक उठे। उन्होंने शिवाजी के पिता शहाजी के द्वारा उन पर जोर डालने की कोशिश की। शहाजी तब कर्नाटक में थे। बीजापुर के सुल्तान ने उन्हें लिख भेजा—"तुम्हारे बेटे शिवा ने हमारी सल्तनत को अस्त-व्यस्त कर डाला है और किलों को लूट लिया है। तुम्हारी नायाब खिदमतों को मद्देनजर करते हुए हमने इस पर गौर नहीं किया लेकिन तुम्हें उसे ऐसी बदतमीजी करने से रोकना होगा।" शहाजी ने जवाब दिया— "मैंने अपने नालायक बेटे और और उसकी माँ को निकाल दिया है। उसे सबक सिखाने के लिए आपको कोई तरकीब ढूँढ़नी होगी।" उन्होंने अपनी निरपराधिता के बारे में जो कुछ कहा, उस पर अली आदिल शाह को भरोसा नहीं हुआ। उसने इसे शहाजी का दुराग्रह ही समझा और उन्हें दण्डित करने का विचार किया। अतः शहाजी को उनकी कर्नाटकस्थित जागीर से बीजापुर बुलाया गया और उनके सम्मान में एक भोज दिया गया। इस दावत में राजी घोड़पड़े ने शहाजी को धोखा देकर एक अँधेरे कुएँ में ढकेल दिया। इस अन्धकूप में दरवाजे के नाम पर एक छोटासा छेद भर

था। शहाजी को बतलाया गया कि यदि निश्चित अवधि के भीतर उनके पुत्र शिवाजी ने आत्मसमर्पण नहीं किया, तो वह छेद बन्द कर दिया जायेगा।

ऐसा कहा जाता है कि जब शिवाजी को अपने पिता की गिरफ्तारी और उन पर आये हुए खतरे की खबर मिली, तो उन्होंने अपने आपको समर्पित करने का विचार किया। परन्तु ग्रांट डफ का कथन है कि जब उन्होंने गम्भीरतापूर्वक इस योजना को क्रियान्वित करने का विचार किया, तब उनकी पत्नी सायो बाई ने उन्हें ऐसा करने से रोका। सायी बाई ने कहा कि एक कुख्यात द्रोहपूर्ण शासन को आत्मसमर्पण करने के बजाय मौजूदा शक्तियों से काम लेनें से शहाजी के जीवन के बचने की सम्भावना अधिक है। शिवाजी और उनकी पत्नी का निम्नलिखित वार्तालाप 'इंडिया आफिस' के पुस्तकालय में सुरक्षित एक फारसी दस्तावेज में दर्ज है, जिसका अनुवाद श्री जदुनाथ सरकार ने किया है। इससे शिवाजी की पत्नी की बुद्धिमत्ता और मेधा पर प्रकाश पड़ता है तथा इससे यह भी ज्ञात होता है कि हमारी नारियाँ उस संकटकाल में अपने पतियों को किस प्रकार सहायता और प्रेरणा प्रदान करती थीं। जब शिवाजी ने उनसे सलाह माँगी, तो उन्होंने उत्तर दिया, "स्त्रियाँ तो मूर्ख होती हैं। क्या मुझमें आपको सलाह देने लायक बुद्धि है? इस कठिनाई के समाधान के लिए आपको अपने सलाहकारों और अनुभवी मंत्रियों से परामर्श लेना चाहिए। एक

कहावत है—'तुम्हारा अन्तर्तम मन तुम्हें जो सुझाता है, वही आनन्ददायक होता है। वृद्ध एवं साधु पुरुषों की मंत्रणा दूसरों की अपेक्षा अधिक ग्राह्य होती है। अपरिचितों तथा अन्य लोगों की सलाह अपमानप्रद होती है और स्त्रियों से परामर्श करना तो विनाश का हेतु है।' इसलिए यह उचित नहीं है कि आप मेरी बात मानें। औरतों की बुद्धि तो दूसरों की तुलना में बहुत कम हुआ करती है।" शिवाजी बोले, "तुमने बिलकुल ठीक कहा है, किन्तु स्त्री और स्त्री में अन्तर होता है। पतिव्रता पत्नियाँ घर का आधारस्तम्भ होती हैं और इसलिए वे परामर्श देने की योग्यता रखती हैं। मैंने तुमसे इसलिए पूछा कि मैं जानता हूँ तुम दूसरों से अधिक बुद्धिमती हो। तुम अपनी बुद्धि से जो कुछ कहोगी वह करणीय ही होगा।" तब सायी बाई ने उत्तर दिया, "मुझे अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार यही सबसे अच्छा लगता है कि आप बीजापुर न जायें और भवानी की कृपा पर भरोसा रखें। असाध्य दीखनेवाली सभी कठिनाइयाँ उनकी महती कृपा से दूर हो जायेंगी।" पत्नी से परामर्श लेकर शिवाजी ने अपने आगामी कार्य का निश्चय किया। उन्होंने मुगल बादशाह शाहजहाँ को अपनी सेवाएँ अर्पित करके सारा दाँव ही उलट दिया। बादशाह का संरक्षण इतना प्रभावशाली था कि शहाजी जेल से छोड़ दिये गये।

इसी के बाद बीजापुर की ताकतों से शिवाजी की असली लड़ाई शुरू हुई। इस संघर्ष के दौरान शिवाजी

बीजापुर के अधीन रहनेवाले अपेक्षाकृत अधिक शक्ति-शाली मराठा जागीरदारों के सम्पर्क में आये। जिस प्रकार शिवाजी ने अपने पड़ोसी जागीरदारों को संगठित किया था, उसी प्रकार इन वर्षों में उन्होंने इन जागीरदारों को अपने नेतृत्व में संगठित करने का कार्य किया। किन्तु उनका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया गया तथा उनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति चन्द्रराव मोरे ने राजी शर्माजी नामक ब्राह्मण के साथ मिलकर शिवाजी के विरुद्ध षड़यंत्र किया। राजी शर्माजी बीजापुर सल्तनत का अन्धभक्त था। उसने बीजापुर द्वारा शिवाजी पर आक्रमण करने और उनकी हत्या करने के लिए भेजे गये दल को आश्रय दिया था। उसकी चाल खुल गयी और शिवाजी ने बीजापुर के सैनिकों पर धावा बोल दिया। चन्द्रराव मोरे शिवाजी के विचारों से सहमत नहीं हुआ, इसलिए उनके आदमियों ने उसका कामतमाम कर दिया। इससे विजय का रास्ता खुल गया और अन्त में इनमें से अनेक प्रमुख जागीरदारों ने शिवाजी को अत्यन्त प्रभाव-शाली जानकर उनके प्रति आत्मसमर्पण कर दिया।

इन सफलताओं से संकट की परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं। बीजापुर के हाकिमों ने एक बहुत बड़ी चेष्टा करने की ठानी। बीजापुर में भारी दरबार बुलाया गया, जिसमें बीजापुर के सुलतान ने अपने सबसे काबिल पठान योद्धा अफजल खाँ के नेतृत्व में बड़ी भारी सेना भेजने का निर्णय लिया। कहा जाता है कि यही अफजल खाँ

कनार्टक में शिवाजी के बड़े भाई सम्भाजी की अकालमृत्यु का जिम्मेदार था। अफजल खाँ शिवाजी और उनके पिता का जानी दुश्मन था। वह शिवाजी को 'पहाड़ी चूहा' कहा करता था तथा उसने खुले दरबार में बढ़-चढ़कर यह दावा पेश किया कि वह इस 'पहाड़ी चूहे' को जिन्दा या मुर्दा गिरफ्तार कर लेगा। बीजापुर के सुलतान ने अफजल खाँ को बेशकीमती कपड़े, जवाहिरात, हाथी, घोड़े और अकूत दौलत तो दी ही थी, साथ ही उसके उत्साह को देखकर उसे १२,००० घोड़े और १०,००० प्यादे भी भेंट किये थे। अफजल खाँ बड़े घमण्ड से इस भारी सेना के आगे आगे चलता हुआ तुलजापुर पहुँचा। यहाँ उसने शिवाजी के कुल की इष्टदेवी श्रीभवानी की प्रतिमा को टुकड़े टुकड़े कर धूल में मिला दिया। इसके बाद वह पंढरपुर की ओर बढ़ा। उसने विठोबा की मूर्ति को तोड़ दिया और मन्दिर में गायें कटवाकर उसे दूषित कर दिया। इसके बाद वह वाई की ओर बढ़ा। उसका प्रयाण बहुत कुछ धार्मिक युद्ध के समान प्रतीत हो रहा था। इससे दोनों पक्ष का गुस्सा भड़क उठा। यह जीतनेवाले या हारनेवाले के लिए जिन्दगी और मौत का युद्ध था। शिवाजी और उनके सभासदों ने स्थिति की भयावहता को समझा। उन्होंने तानाजी मालुसरे को अफजल खाँ के नेतृत्व में आगे बढ़नेवाली बीजापुर की सेना की गतिविधि का पता लगाने और उसका समाचार लाने के लिए भेजा। तानाजी वापस नहीं लौटे। जब जब

ऐसे भयानक और विपत्तिपूर्ण अवसर आये थे, तब तब शिवाजी भवानी की शरण गये थे। अबकी बार फिर शिवाजी ने अपने स्वभावानुसार माता भवानी के निर्देश की याचना की, पर उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला। कर्नल मीडोज टेलर ने अपने प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'तारा' में इस घटना का वर्णन करते हुए लिखा है—"शिवाजी अपने जीवन में पहली बार थके-से मालूम हुए और उनके चेहरे पर शोक की छाया दीख पड़ी।" सान्त्वना और शान्ति प्राप्त करने के लिए वे अपनी माता जीजाबाई के पास बोझिल हृदय लेकर गये। वे उन्हें दरवाजे की चौखट के पास मिलीं। उन्होंने दोनों हाथों को शिवाजी के चेहरे और कण्ठ तक घुमाकर उँगलियों को चूम लिया। माता ने पूछा, "बेटा! क्या तानाजी आ गये हैं ? तुमने उनका स्वागत-समारोह बड़ी जल्दी निपटा दिया ?" उन्होंने उत्तर दिया, "नहीं माँ! उनका कोई समाचार नहीं मिला है और इसी बात से मुझे कष्ट हो रहा है।" फिर वे दोनों अन्दर चले आये। माता चटाई पर बैठ गयीं और शिवाजी उनकी गोद पर सिर रखकर लेट गये। शिवाजी ने कहा, "माँ! क्या आज तुम देवी के पास गयी थीं ? मुझे तो वे बहुत उदास और दुखी लगीं। मैंने पूरी हार्दिकता से उनके आदेश की याचना की, पर मुझे कोई उत्तर नहीं मिला। क्या उन्होंने हम पर से अपना वरद हस्त उठा लिया है ?" माता बोलीं, "उनकी इच्छा को कौन बता सकता है, बेटा ? हम तो उनके यन्त्र

मात्र हैं। तुम हृदय मत हारो। यदि कष्ट बदा है, तो क्या हम कष्ट नहीं भोगेंगे? यदि वे चाहती हैं कि हम कष्ट भोगें, तो क्या हम कष्ट नहीं भोगेंगे? पर हताश मत होओ, सन्देह मत करो। याद रखो कि तुम्हारे पिता ने सन्देह किया था और उन्हें असफलता मिली थी। सन्देह से उन्हें कड़ी कैद, दण्ड, कष्ट, लज्जा और पराजय के अलावा और क्या मिला? बेटा! ऐसा मत कहो। अविश्वास करने और हताश होने के बजाय तुम्हारा और मेरा मर जाना ही अच्छा होगा।" शिवाजी ने कहा, "यह बड़ी कठिन परीक्षा है, माँ! यहाँ तो हम सुरक्षित हैं। मुझे तुम्हारे लिए भय नहीं है, पर अन्य लोगों के लिए यह निराशाजनक स्थिति है और इसी बात से मुझे कष्ट हो रहा है। बरसों की कूटनीति और व्यवस्था एक व्यक्ति के मरने के साथ ही नष्ट हो जायेगी। हमने जो योजना बनायी थी, वह जान ली गयी है।" माता ने विस्मय के स्वर में कहा, "अगर वह रहस्य प्रकट भी हो गया, तो भी तुम्हें क्यों डरना चाहिए? मैं तो स्त्री हूँ। विद्वान् तुम्हें बतायेंगे कि स्त्री के विचारों और भावों का भरोसा नहीं करना चाहिए। पर मैं तुम्हें बताती हूँ कि मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। मुझे इस बात की खुशी है कि तुम्हारी परीक्षा की घड़ी आ चुकी है। तुमने जिस प्रकार यह एक घंटा बिताया है, जब तुम्हारे हृदय ने तुमसे बातें की हैं, वह एक हजार पण्डितों और एक लाख तलवारबाजों से कहीं अधिक फलदायक है। मैं

कहती हूँ कि मैं बहुत प्रसन्न हूँ, क्योंकि इन्हीं स्थितियों से तुम किसी दूसरे की ओर न ताककर स्वयं पर भरोसा करना सीख सकते हो।" शिवाजी ने मुस्कराते हुए पूछा, "और तुम पर, माँ ?" माता ने जवाब दिया, "नहीं नहीं, बेटा ! मुझ पर नहीं ! हाँ, जब देवी भवानी मेरे मुँह से बोलती हैं, तब बात भिन्न होती है। पर वैसे मैं तो एक स्त्री हूँ, जो तुमसे, गोली से, तलवार से, भाले से और लड़ाई के पाशविक हंगामे से डरती है और—।" इतने में शिवाजी उठकर बैठ गये और माता की बात काटते हुए बोले, "नहीं माँ ! तलवार और लड़ाई का भय मुझे नहीं है। वहाँ तो मैं सुरक्षित रहता हूँ। मैं पहले बहुत उदास था, पर अब यह भार मेरे हृदय से उतर जायेगा। इस शान्त वातावरण में मुझे विचार करने का पर्याप्त समय मिला है। 'हर हर महादेव' की ध्वनि और पुकार मेरे कानों में गूँज रही है!" माता नें उत्तर दिया, "इसे फिर से गूँजना चाहिये, बेटा ! डरो मत, सन्देह मत करो। केवल कार्य करो। यही पर्याप्त है। हे माँ! हे श्रीमाँ!!" इतना कहकर वे खड़ी हो गयीं और गहन नीलाकाश की ओर जुड़े हुए हाथ उठाकर बोलीं, "फिर आओ, माँ ! आकाश से उतरकर अपनी पुत्री के हृदय में आओ ! मुझे बताओ कि मैं क्या कहूँ ? उसे क्या आज्ञा दूँ ? या फिर तुम्हीं स्वयं आज्ञा दो। हे भवानी ! हमारे समस्त कार्य तुम्हारे ही नाम और तुम्हारी ही भूमि के लिए हैं। हमारा विश्वास गिर गया

है, इसलिए तुम हमें पराजित और लज्जित मत करो।" इतना कहकर वे मन्दिर में गयीं और एकान्त में काफी समय तक माता से प्रार्थना करती रहीं। फिर लौटकर भावविगलित स्वर में उन्होंने कहा, "भवानी दुःखित हैं, बेटे! वे स्वयं सान्त्वना चाहती हैं। कोई बात नहीं, मैं स्वयं उनसे प्रार्थना करूँगी।" कुछ देर बाद पुत्र ने कहा, "अवश्य ही भवानी ने हमारी प्रार्थना सुन ली है। मेरी आत्मा तुम्हारे वचनों से सशक्त हो उठी है। माँ! अब मुझे दिखायी दे रहा है कि यह सब कैसे होगा। मैं यही कहूँगा कि हमें कार्य करते जाना चाहिए। यदि मेरी प्रजा मुझ पर विश्वास करती है, हाँ माँ, यदि वह मुझ पर आस्था रखती है, तो हम अवश्य विजयी होंगे और मैं प्रजा को या तुम्हें निराश नहीं करूँगा।" माता हर्षित हो उठीं और शिवाजी के सिर पर हाथ रखकर बोलीं, "ऐसा कहने के लिए मैं तुम्हें हजार-हजार आशीष देती हूँ, शिवाजी भोंसले! अब मुझे कोई भय नहीं है। तुम कथा में लौटो और लोगों को बताओ कि अब उनके लिए 'हर हर महादेव' का घोष करने का समय आ गया है। उनका प्रत्येक नाद हजार-हजार शत्रुओं की मृत्यु की चीख में परिणत होगा!" इतना कहकर वे अन्दर चली गयीं।

शिवाजी एकटक अपनी माता को अन्दर जाते और परदे की ओट में ओझल होते देखते रहे। विजय के भाव से उनकी आँखें चमक उठीं और मुखमण्डल प्रदीप्त हो

उठा। वे अपने-आप से कह उठे, "माँ ने कहा है कि मुझे स्वयं होकर कार्य करना चाहिए।" फिर वे चीख पड़े, हाँ माँ! मैं पहले तुम्हारे लिए कार्य करूँगा, फिर लोगों के लिए। जब पहाड़ियों में आग लगी हो, तब कोई व्यर्थ बात नहीं होगी, होगा केवल 'हर हर महादेव'!"

स्वामीजी कहते चले--शिवाजी की माता ने जगदम्बा भवानी को शोकाकुल बताया था। तुम आगे देखोगे कि शिवाजी की हताशा एवं भवानी की व्यथा का कारण तुलजापुर में भवानी के मन्दिर का ध्वंस होना और वहाँ गायों का काटा जाना था।

शिवाजी ने कथा की आज्ञा दी थी। जैसा पहले कहा जा चुका है, सब लोग जानते थे कि ऐसी कथा किसी महान् कार्य या अभियान की पूर्वभूमिका हुआ करती थी। सब लोग पहाड़ पर इकट्ठे हो गये। इतने में एक घुड़सवार हाँफते हुए उस स्थान पर पहुँचा तथा कथा के लिए ताने गये चँदोवे में आया। उजाले में आते ही लोगों ने उसे पहचान लिया। वह था तानाजी मालुसरे। शिवाजी बड़ी अधीरता से उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने पूछा कि वे क्या समाचार लाये हैं। घोड़े से उतरकर मालुसरे ने कहा, "राजकुमार! यह दुःख की भी बात है और खुशी की भी। मुझे जत में इसकी खबर मिली थी और मैंने शपथ ली थी कि जब तक यह बात तुम्हें या प्रजा को न बता दूँ, तब तक निद्रा या विश्राम ग्रहण नहीं करूँगा! सब लोग खड़े हो जाओ और

मेरी बात सुनो !" तानाजी ने चीखकर कहा, "हे राजकुमार और समस्त प्रजागण ! सुनो ! हमारे बुरे दिन आ गये हैं, क्योंकि हमारी जगदम्बा, हमारी देवी को अपमानित किया गया है। उसके मन्दिर को तोड़ डाला गया है।" लोगों में आक्रोश की वेगवती लहर उमड़ने लगी, पर तानाजी ने हाथ उठाकर शान्त करते हुए कहा, "अफजल खाँ ने तुलजामाता की प्रतिमा को तोड़ डाला है। उसने ब्राह्मणों का वध कर दिया है और पवित्र गायों को कटवाकर उनका रक्त सारे मन्दिर में छिड़क दिया है। अब यह वेदी और भवानी साक्षी हैं कि मैंने अपनी व्यथा तुम्हें सुना दी है।"

तब एक विचित्र चीख फूट निकली—एक ऐसी चीख, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की व्यथा और प्रतिशोध की चीख मिली हुई थी और जिसने हजारों मुखों से निकलकर एक भयानक हुंकार के रूप में सारे पहाड़ को गुंजित कर दिया था। शिवाजी ने हाथ उठाकर फिर उन्हें शान्त किया।

उन्होंने कहा, "मुझे लगा था कि जगदम्बा व्यथित हैं। इसलिए उन्होंने इन दिनों मुझसे अपना मुख छिपा लिया था। मेरी माँ ने भी उनके दर्शन करने की चेष्टा की थी, पर वे भी असफल रहीं। और अब हमने इसका कारण जान लिया है। प्रजाजनो! क्या ऐसा होता रहेगा? क्या शिवाजी भोंसले और तुम लोगों के जीते-जी ऐसा होगा? क्या भवानी का मन्दिर नष्ट हो जायेगा? जब तक भवानी का बदला न लिया जाय, हमें कायर होकर

जीते रहने के बजाय सम्मान से मर जाना चाहिये!" फिर उन्होंने अपनी भवानी तलवार दिखाते हुए कहा, "सुनो! इस तलवार से तुम सभी परिचित हो। इसका नाम भवानी के नाम पर रखा गया है।" फिर उन्होंने तलवार को म्यान से निकालकर कहा, "देखो, यह चमक रही है और बहुत सुन्दर दीखती है, पर अब यह मुसलमानों के खून से मैली हो जाय, अब यह जी भर खून पीये! यह मेरी प्रतिज्ञा है। आओ, तुम सब लोग मेरी पुकार का उत्तर दो—हर हर महादेव!"

उस सभा में ऐसा कोई नहीं था, जिसने अपने नायक के समान अपनी तलवार निकालकर उसे ऊँची करते हुए 'हर हर महादेव' का निनाद न किया हो।

सभा के बाद शिवाजी ने मालुसरे के साथ बहुत देर तक बातें कीं। जब उन्हें अफजल खाँ के नेतृत्व में बढ़नेवाली विशाल सेना की रचना और तुलजापुर की लूटमार के सम्बन्ध में सारी बातें विस्तार से मालूम हुईं, तो उनके सामने यह स्पष्ट हो गया कि रणक्षेत्र में अपने साथियों के साथ अफजल खाँ से टक्कर लेना महज पागलपन ही होगा। वे बड़ी सरलता से खूँख्वारों के हाथों पड़ जायेंगे। उन लोगों के सामने उनकी सारी सेना और अस्त्र-शस्त्र बेमानी हो जायेंगे। उस बियाबान में दस हजार मुसलमान सैनिकों के लिए उनके साथी बहुत थोड़े होंगे।

तब शिवाजी ने स्वयं के द्वारा सावधानीपूर्वक चुने गये एक स्थान पर अपने बर्बर शत्रु से मिलना निश्चित

किया। अपने विचारों को गुप्त रखते हुए उन्होंने समस्त बाधाओं से निपटने के लिए बड़ी सावधानी और सजगता के साथ सारी व्यवस्थाएँ कीं। उधर अफजल खाँ अपनी बड़ी सेना के घमण्ड में यह सोच रहा था कि शिवाजी उसके मुकाबले रणक्षेत्र में टिक नहीं सकेंगे। वह केवल एक काम करना चाहता था, वह यह कि किसी प्रकार शिवाजी को उनके किले से निकाल लिया जाये, और यदि सम्भव हो तो उन्हें कैदी बनाकर बीजापुर ले जाया जाये, और इस प्रकार एक पहाड़ी प्रदेश में एक लम्बे अभियान के सभी खतरों से बचा जाये।

आपाततः दोनों एक-दूसरे पर धावा बोलकर कैद करना चाहते थे, क्योंकि दोनों यह जानते थे कि पूर्व की युद्धप्रणाली में सेनापति का पतन बहुधा युद्ध के परिणाम को निश्चित कर देता है, या कम से कम उसे बड़ी सीमा तक प्रभावित तो अवश्य कर देता है।

(क्रमशः)

•

यदि आत्मा के जीवन में मुझे आनन्द नहीं मिलता, तो क्या मैं इन्द्रियों के जीवन में आनन्द पाऊँगा? यदि मुझे अमृत नहीं मिलता, तो क्या मैं गड्ढे के पानी से प्यास बुझाऊँ?

– स्वामी विवेकानन्द

प्रश्न—जीवात्मा अभौतिक और सूक्ष्म है जो आँख से देखी, कान से सुनी, नाक से सूँघी, जीभ से चखी और शरीर से स्पर्श नहीं की जा सकती, अर्थात् किसी भी भौतिक स्तर पर उस सूक्ष्म वस्तु का आभास नहीं हो सकता, तो इस जीवात्मा पर माया, सांसारिक कर्म, पदार्थ आदि का प्रभाव क्यों पड़ता है, जो पूर्ण रूप से भौतिक है ?

—प्रा. मूलसिंह गहलोत, सीकर

उत्तर—वेदान्त-दर्शन में आत्मा और जीवात्मा एक होते हुए भी दो विभिन्न स्थितियों की सूचना देते हैं। आत्मा अभौतिक और सुसूक्ष्म है, जिसका अनुभव इन्द्रियों से नहीं होता। मन सूक्ष्म जड़ है और देह, पाषाण आदि स्थूल जड़ हैं। मन और देह आदि गतिशील और परिवर्तनशील हैं। इनको भौतिक पदार्थों के रूप से जाना जाता है। वस्तुतः भौतिक पदार्थों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जो प्रभाव पड़ता-सा दिखता है, वह वास्तव में भ्रम के कारण है और इसी दिखनेवाले प्रभाव के कारण आत्मा को जीवात्मा कहते हैं। अर्थात्, आत्मा निर्लिप्त और अप्रभावित है, पर हमें ऐसा लगता है कि आत्मा भौतिक पदार्थों से प्रभावित होता है। जब हम आत्मा को प्रभावित मान लेते हैं, तो उसी माने हुए आत्मा को दर्शनशास्त्र की भाषा में

जीवात्मा कहते हैं। पर जैसा ऊपर कहा, उससे स्पष्ट है कि वेदान्त में आत्मा और जीवात्मा को एक ही माना गया है।

उदाहरणार्थ, गिलास के जल में पिन डाल लो। जल को हिलाओ। पिन टेढ़ी-मेढ़ी दिखायी देती है। पर वस्तुतः पिन तो सीधी ही है। जब जल शान्त है, तो पिन अपने स्वरूप में दिखायी देती है। यह हुई आत्मा की उपमा। जब जल हिलता-डुलता है, तो पिन टेढ़ी-मेढ़ी दिखायी देती है। यह हुई जीवात्मा की उपमा। पर क्या पिन सचमुच टेढ़ी-मेढ़ी हो गयी? नहीं। सीधी दिखनेवाली पिन-रूप आत्मा और टेढ़ी-मेढ़ी दिखनेवाली पिन-रूप जीवात्मा—ये दोनों क्या भिन्न भिन्न हैं? नहीं। दोनों एक ही हैं। वास्तव में, जल का कोई प्रभाव पिन पर नहीं होता, भले ही प्रभाव हुआ-सा दिखता है। ठीक इसी प्रकार, भौतिक पदार्थों की गतिशीलता, परिवर्तनशीलता और चंचलता के कारण अभौतिक और सूक्ष्म आत्मा प्रभावित-सा दिखता है, पर वस्तुतः प्रभावित नहीं होता।

प्रश्न--(१) धर्म को सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप करने का उपक्रम नहीं करना चाहिए। अतः धर्म समाज का व्यवस्थापक न बने। इस सम्बन्ध में आपकी क्या राय है? (२) राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्र-धर्म इन दोनों में क्या कोई पारस्परिक सम्बन्ध है?

--प्रेमशंकर पाटनवार, बिलासपुर

उत्तर--(१) हम धर्म को समाज की भित्ति मानते हैं और ऐसी मान्यता रखते हैं कि समाज के जीवन में धर्म को सर्वोपरि स्थान मिलना चाहिए। धर्म कोई गतानुगतिक परम्परा का पालन मात्र नहीं है। धर्म तो जीवन का नियमन करनेवाला तन्त्र है। मानव में दानव और देवता दोनों हैं, आसुरी और दैवी प्रवृत्तियाँ दोनों हैं। धर्म वह है, जिससे आसुरी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगता है और दैवी प्रवृत्तियाँ बल प्राप्त करती हैं। अतः

यदि समाज में आसुरी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देनेवाली गलत बातें हावी होने लगे, तो उनका विरोध धर्म को करना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि धर्म को सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप का पूरा अधिकार है। आज उसका यह अधिकार छिन गया है, इसका कारण यह है कि धर्म पोषण के बदले शोषण का साधन बना लिया गया है। मतलबी लोगों ने धर्म पर एकाधिपत्य मानते हुए, उसे वर्गविशेष की सम्पत्ति मानते हुए, नाना प्रकार के कुसंस्कारों से उसे ढक दिया है, इसलिए धर्म आज पंगु हो गया है। आग को राख से ढक देने पर राख का ही प्रभुत्व हो जाता है, परन्तु फिर भी भीतर आग बुझती नहीं बल्कि सुलगती रहती है, वैसे ही आज धर्म कुसंस्कार और अन्धविश्वास की राख में ढका पड़ा है। प्रभुत्व इन कुसंस्कारों और अन्धविश्वासों का हो गया है। तथापि धर्म की आग बुझी नहीं है, वह सुलग रही है। राख की ढेर को दूर कर उस सुलगती आग को धधका देना यही आज का आवश्यक कर्तव्य है। तब हम देखेंगे कि धर्म जीवन के हर अंग में क्रियमाण है। धर्म का न समाज से विरोध है, न राजनीति से। वह तो जीवन के हर क्षेत्र में मानवता को प्रकट करना चाहता है। अतः धर्म को समाज का व्यवस्थापक बनने या न बनने देना कोई मायने नहीं रखता। यह बात उतनी ही हास्यास्पद है जितना कि यह कहना कि नींव मकान को व्यवस्थापक न बने; क्योंकि कोई कहे या न कहे, कोई माने या न माने, नींव तो मकान की अधिकार-प्राप्त व्यवस्थापक है ही। इसी प्रकार, धर्म भी मनुष्य का और, इसलिए, मानव-समाज का आधार है। आवश्यकता उसे हटाने की नहीं, उसे सशक्त करने की है।

(२) राष्ट्र के प्रति श्रद्धा-भक्ति को राष्ट्र-प्रेम कहते हैं। राष्ट्र-धर्म देश का धर्म होता है, जिसके बिना देश जी नहीं सकता। आग का धर्म है जलाना। अगर आग से उसका यह

धर्म निकल जाय, तो उसकी मृत्यु हो जायेगी। विश्व के सभी राष्ट्रों का अपना अपना धर्म है। स्वामी विवेकानन्दजी के शब्दों में, अमेरिका का धर्म उसकी अपनी राजनीति है, तो इँग्लैंड का धर्म है उसकी वाणिज्य-व्यापार की नीति। उसी प्रकार, भारत का धर्म है आध्यात्मिकता और उसके आधार पर विश्व-बन्धुत्व की प्रतिष्ठा। इसमें बाधक तत्त्वों को बलपूर्वक नष्ट करना भी राष्ट्र-धर्म के ही अन्तर्गत आता है। जैसे, शरीर के किसी अंग में कीड़े पड़ जाने पर शस्त्रोपचार द्वारा उस अंग को काटकर दूर करना धर्म्य है, वैसे ही बाधक तत्त्वों का मूलोच्छेद भी धर्म्य है।

अपने राष्ट्रधर्म के प्रति अटूट निष्ठा और उसके पालन का सतत उपक्रम राष्ट्रप्रेम कहलाता है।

*

विवेकानन्द जयन्ती समारोह-१९७३

प्रति वर्ष की भाँति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में विश्ववन्द्य, प्रातःस्मरणीय स्वामी विवेकानन्दजी का १११ वाँ जयन्ती-महोत्सव आश्रम के प्रांगण में २० जनवरी, १९७३ से लेकर १४ फरवरी, १९७३ तक निम्नलिखित कार्यक्रम के अनुसार मनाया जा रहा है। कार्यक्रम सबके लिए खुला है, पर दस वर्ष से छोटे बच्चों के लिए प्रवेश निषिद्ध है।

कार्यक्रम

★ शनिवार, २० जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :—"इस सदन की राय में राष्ट्र के विकास हेतु बनायी गयी योजनाओं की असफलता के लिए आर्थिक संकट की अपेक्षा चारित्रिक संकट कहीं अधिक सशक्त कारण रहा है ।"

★ रविवार, २१ जनवरी .. प्रात:काल ८ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

★ रविवार, २१ जनवरी .. सायंकाल ५ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :—"धर्म और विज्ञान के समन्वय-सेतु स्वामी विवेकानन्द ।"

★ सोमवार, २२ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

माध्यमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता

(प्रथम दो श्रेष्ठ प्रतियोगियों को व्यक्तिगत पुरस्कार)

★ मंगलवार, २३ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :—"इस सदन की राय में भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए कानून नहीं, डंडे की जरूरत है ।"

★ बुधवार, २४ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :—"बच्चों के विवेकानन्द ।"

स्वामी विवेकानन्द जन्म-तिथि उत्सव

★ गुरुवार, २५ जनवरी ★

मंगल-आरती, प्रार्थना, ध्यान .. प्रातः ५।। से ७।। बजे तक।
भजन-गीत, पूजा एवं प्रार्थना .. सुबह ६।। से ११।। बजे तक।
सान्ध्य आरती और प्रार्थना .. सायंकाल ६ बजे।

★ गुरुवार, २५ जनवरी .. सायंकाल ६।। बजे

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"यदि आज स्वामी विवेकानन्द होते।"

★ शुक्रवार, २६ जनवरी .. सायंकाल ५ बजे

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय :–"इस सदन की राय में शिक्षा-जगत् में पनपती अनुशासनहीनता के लिए विद्यार्थियों की अपेक्षा शिक्षक और अधिकारी कहीं अधिक जिम्मेदार हैं।"

★ शनिवार, २७ जनवरी . सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

★ रविवार, २८ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्घाटन

विषय :–"स्वामी विवेकानन्द का पूर्व और पश्चिम को सन्देश।"

★ २९ जनवरी से ७ फरवरी तक. .प्रतिदिन सायंकाल ६।। बजे

रामायण-प्रवचन

प्रवचनकार : पं० रामकिंकरजी महाराज

(भारत-प्रसिद्ध रामायणी)

★ ८ फरवरी से ११ फरवरी तक . .प्रतिदिन सायंकाल ६।। बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

प्रवचनकार : (१) श्री विरागीजी महाराज

(२) कु० उमा भारती

(विलक्षण प्रतिभासम्पन्न १३ वर्षीया बालिका)

★ १२ फरवरी से १४ फरवरी तक प्रतिदिन सायंकाल ६।। बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

विषय :-"वेदान्त--सिद्धान्त और व्यवहार।"

प्रवचनकार : (१) कु० सरोज बाला

(विलक्षण प्रतिभासम्पन्न १६ वर्षीया बालिका)

(२) बालयोगी विष्णु अरोड़ा

(विलक्षण प्रतिभासम्पन्न ७ वर्षीय बालक)

(३) स्वामी आत्मानन्द

●

पुस्तक-समीक्षा

साहित्य-वीथी

पुस्तक का नाम : ईश्वरोपलब्धि के पथ

लेखक : स्वामी वीरेश्वरानन्द

प्रकाशक : रामकृष्ण मिशन सारदापीठ, बेलुड़ मठ, हावड़ा

पृष्ठसंख्या : ८७, मूल्य : ६० पैसे।

प्रस्तुत पुस्तिका रामकृष्ण मठ एवं मिशन के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज के दो प्रवचनों का संग्रह है। प्रथम प्रवचन 'ईश्वरोपलब्धि के पथ' स्वामीजी के उस व्याख्यान

का अनुलिखित रूप है, जिसे उन्होंने रामकृष्ण मिशन आश्रम, बम्बई में दिया था। इस प्रवचन में यह बताया गया है कि मनुष्य का वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्द है तथा अपने इस स्वरूप की उपलब्धि ही जीवन का चरम लक्ष्य है। अपने सच्चे स्वरूप का विस्मरण कर देने के कारण व्यक्ति को अनेकानेक दुःखभोग करना पड़ता है। मनुष्य अज्ञान के वशीभूत होकर अपने मूल स्वभाव को भूल जाता है। यदि वह अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर ले, तो उसके समस्त दुःखों का नाश हो जायगा। स्वामीजी कहते हैं कि संसार के सभी धर्म मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पथ-निर्देश करते हैं। ऐसे तो एक धर्म दूसरे से भिन्न दीखता है, पर वस्तुतः संसार के सभी धर्म कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और राजयोग में से एक या दो अथवा चारों के मिश्रण का उपदेश देते हैं। स्वामीजी ने इन चारों योगों की सविस्तार व्याख्या करते हुए इष्ट-मंत्र के जप और मनोनिग्रह पर विशेष बल दिया है तथा आत्मविश्वास के साथ प्रयास की आवश्यकता बतायी है।

दूसरा प्रवचन 'श्रीरामकृष्ण और युगधर्म' रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना में दिया गया था। इसके प्रारम्भ में अवतारवाद पर चर्चा करते हुए आधुनिक युग की सन्देहशील मनःस्थिति का निरूपण किया गया है। संक्रान्ति-युग की पटभूमिका पर श्रीराम-कृष्ण देव ने अवतरित होकर जिस महत् दायित्व का निर्वाह किया है उसकी चर्चा करते हुए स्वामीजी बताते हैं कि सबसे पहले उन्होंने भगवान् के प्रति लोगों की आस्था को जगाया और अपने जीवन के द्वारा यह साबित कर दिया कि ईश्वर का अस्तित्व है। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित ईश्वर के दर्शन कराये और समस्त धर्मों को सत्य घोषित किया। स्वामीजी कहते हैं कि श्रीरामकृष्ण देव ने जीव-सेवा को धर्मोपासना के समकक्ष

बना दिया। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द और श्रीमाँ सारदा के अवदान का भी सविस्तार विवेचन किया है।

समग्रत: यह पुस्तिका आध्यात्मिक जिज्ञासुओं एवं सर्वसाम पाठकों के लिए समान रूप से पठनीय एवं संग्रहणीय है। उं सर्वत्र एक अनुभूतिसम्पन्न ऋषि की प्रवहमान भावधारा व्य दीखती है।

डा० नरेन्द्र देव

फार्म ४ रूल ८ के अनुसार

'विवेक-ज्योति' विषयक ब्यौरा

१. प्रकाशन का स्थान — रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिता — त्रैमासिक
३—५. मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक — स्वामी आत्मानन्द
राष्ट्रीयता — भारतीय
पता — विवेकानन्द आश्रम, रायपु
६. स्वत्वाधिकारी — रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ म

स्वामी वीरेश्वरानन्द, स्वामी निर्वाणानन्द, स्वामी ओंकारानन्द स्वामी गम्भीरानन्द, स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी चिदात्मानन्द स्वामी शान्तानन्द, स्वामी अभयानन्द, स्वामी दयानन्द, स्वामी सम्बुद्धानन्द, स्वामी पवित्रानन्द, स्वामी कैलासानन्द, स्वामी भास्वरानन्द, स्वामी तपस्यानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी आदिदेवानन्द, स्वामी गहनानन्द।

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर) **स्वामी आत्मानन्द**